Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय
का प्रकाशन

# लर्निंग कर्व

हिन्दी अंक 13 : अक्टूबर, 2016

*अन्दर के पृष्ठों पर*
परिदृश्य
कार्यक्षेत्र से

# भारत में सार्वजनिक शिक्षा तंत्र

**सम्पादन**
चन्द्रिका मुरलीधर
इन्दुमति एस.
मधुमिता सुधाकर
प्रेमा रघुनाथ

**सलाहकार**
रामगोपाल वल्लत
एस. गिरिधर
उमाशंकर पेरिओडी

**हिन्दी अनुवाद**
रमणीक मोहन
नलिनी रावल

**हिन्दी अंक सम्पादन**
राजेश उत्साही

**आवरण छायाचित्र**
दिलीप कुमार राठौड़
जिला संस्थान, यादगीर
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन

**डिजायन – मुद्रक**
SCPL डिजायन
बेंगलूरु - 560 062
+91 80 2686 0585
+91 98450 42233
www.scpl.net

***कृपया ध्यान दें*** *: इस अंक में प्रकाशित लेख मूलतः लर्निंग कर्व (अँग्रेजी) XXV, जनवरी, 2016 के लेखों का हिन्दी अनुवाद है। लेखों में व्यक्त विचार और दृष्टिकोण लेखकों के अपने हैं, उनसे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन या अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का सहमत होना आवश्यक नहीं है।*

*''लर्निंग कर्व अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का एक प्रकाशन है। इसका उद्देश्य शिक्षकों, शिक्षक–अध्यापकों, स्कूल प्रमुख, शिक्षा अधिकारियों, अभिभावकों और गैर–सरकारी संगठनों तक ऐसे प्रासंगिक और विषयगत मुद्दों में पहुँच बनाना है जो उनके रोजमर्रा के काम से सम्बन्धित हैं। लर्निंग कर्व शैक्षिक जगत के विभिन्न दृष्टिकोणों, अभिव्यक्तियों, परिप्रेक्ष्यों, नई जानकारियों और नवाचार की कहानियाँ प्रस्तुत करने के लिए एक मंच प्रदान करता है। इसका मूल विचार 'शैक्षणिक' और 'अभ्यासकर्ता' के मध्य सन्तुलन हेतु उन्मुख पत्रिका के रूप में स्थापित होना है।''*

# सम्पादक की कलम से

'लर्निंग कर्व' के 25वें अंक (मूल अँग्रेजी में) में आपका स्वागत है। हम इस स्वर्णिम मील के पत्थर पर आ पहुँचे हैं और इस उपलब्धि को मनाने के लिए तय हुआ कि इस अंक में उस विचार को केन्द्र में रखा जाए जिसे ध्यान में रखकर अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन काम कर रहा है यानी सार्वजनिक शिक्षा। सार्वजनिक शिक्षा न केवल इस रूप में कि वह भारत के प्रत्येक बच्चे को उपलब्ध अधिकार हो बल्कि एक लोकतांत्रिक एवं समतामूलक समाज के बनने में सहायक औजार हो। समाज का शिक्षा के साथ बहुत ही अन्तरंग सम्बन्ध है और इसलिए उसे एक ऐसी शिक्षा–व्यवस्था कायम करने के लिए कार्यरत होना होगा जो इस उद्देश्य की प्राप्ति को सुनिश्चित करे।

यह सुनिश्चित हो पाने के लिए सबसे आवश्यक है एक मजबूत सार्वजनिक शिक्षा–व्यवस्था का होना और उसके लिए कुछ महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं का पूरा होना भी जरूरी है। इनमें एक बेहतर बुनियादी ढाँचे तथा सीखने–सिखाने के संसाधनों के लिए पर्याप्त बजट के साथ–साथ उच्च गुणवत्ता के शिक्षकों की भर्ती शामिल है – जिसका अर्थ है कि शिक्षक–प्रशिक्षण भी उच्च दर्जे का होना होगा। इसके अलावा सरकार को सुनिश्चित करना होगा कि बचपन के शुरुआती काल से ही स्कूली शिक्षा के सभी स्तरों तक बच्चों की पूर्ण रूप से पहुँच बनवाई जाए। साथ ही एक सुदृढ़ प्रबन्धन समिति के माध्यम से स्कूल के चलाने में स्थानीय समुदाय की भागीदारी भी सुनिश्चित करना होगी। पिछले 25 सालों में भारतीय समाज का ताना–बाना अपरिवर्तनीय तौर पर पुनः संरचित हुआ है। इसके चलते अपनी शैक्षिक व्यवस्था से हमारी अपेक्षाएँ तो बदली ही हैं, एक परिवर्तित भारत के परिवर्तित चरित्र के साथ तालमेल रखने के लिए उस व्यवस्था से प्राप्त होने वाले नतीजों से भी हमारी अपेक्षाओं में बदलाव आया है।

सार्वजनिक शिक्षा का विषय एक ऐसा मुद्दा है जो विश्व भर में प्रत्येक समाज को प्रभावित करता है। व्यापक स्तर पर व्यवस्थाओं और प्रणालियों के साथ मूल असन्तुष्टि दिखाई देती है, हालाँकि स्वयं यह विचार एक लोकतांत्रिक समाज से बहुत ही अन्तरंग तौर पर जुड़ा हुआ है – एक ऐसा समाज जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को व्यापक समाज में अपने स्थान के बारे में सिखाया जाता है। भारत में सार्वजनिक और निजी, दोनों तरह की स्कूली व्यवस्थाओं के साथ असन्तुष्टि है, विशेष तौर से शहरों में जहाँ निजी स्कूलों में बहुत महँगी शिक्षा फल–फूल रही है, जगह और सुविधाओं का अभाव है और शिक्षण का स्तर भी अपर्याप्त है।

हमारी सार्वजनिक व्यवस्थाएँ और प्रणालियाँ (उदाहरण के लिए केवल स्कूल ही नहीं, स्वास्थ्य–सम्बन्धी देखभाल भी) किस प्रकार अधिक लोकप्रिय हो सकती हैं और किस प्रकार उन्हें बेहतर प्रयोग में लाया जा सकता है? शायद यह तब होगा जब अधिक संख्या में लोग इनका प्रयोग करेंगे। क्योंकि बेहतरीन शिक्षा या इलाज की अपेक्षा रखने वाले लोग भी तब ही बड़ी संख्या में शिक्षण और स्वास्थ्य–सम्बन्धी देखभाल के बढ़िया से बढ़िया होने की माँग करेंगे। इसीलिए इस अंक में इस महत्त्वपूर्ण लेकिन बहुचर्चित विषय को कई तरह से जाँचने के तरीकों से हमें पता चलता है कि हम सब (इस मुल्क का प्रत्येक व्यक्ति) इस बात में शामिल है कि शिक्षा क्या रूप लेती है, क्योंकि यह हमारे लिए अहम बात है कि हमारे समाज का भविष्य कैसा होगा। यह हमारी उस जबरदस्त उम्मीद को भी दर्शाता है कि समाधान चाहे हमारे हाथ न आ रहे हों, लेकिन वे मौजूद हैं। यह तो हम पर है कि हम उन्हें तलाशें और उन तक पहुँचें। यह आशा तब और भी बढ़ जाती है जब हम कहानियाँ सुनते हैं दूर–दराज के अपने उन सार्वजनिक स्कूलों की जहाँ शिक्षक कमाल का काम कर रहे हैं – प्रतिकूल मौसम तथा चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों में जोश कम हुए बिना काम कर रहे हैं।

इस अंक में विभिन्न विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेख हैं। एक केन्द्रीय लेख बढ़ती हुई आय, बेहतर शिशु–देखभाल और स्कूली शिक्षा के बीच के निकट सम्बन्ध को जाँचता है। एक और लेख इस बारे में है कि हम शिक्षा के माध्यम से किस प्रकार के समाज का निर्माण करना चाहते हैं जब कि एक अन्य लेख शिक्षा के निजीकरण के सामाजिक परिणामों की बात करता है – यह बहुत दूरगामी महत्त्व के सवाल खड़े करता है। उदाहरण के लिए, क्या शिक्षा का खर्च व्यक्तियों द्वारा दिया जाना चाहिए ताकि वह एक निजी समाज का हिस्सा बन जाए और वह स्वयं को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में देखने

से रोके जो एक व्यापक स्तर पर जुड़ा हुआ हो। एक अन्य लेख निजी तथा सार्वजनिक स्कूली–शिक्षा के बीच की बहस को जाँचता है और यह सिद्ध करता है कि आमतौर पर जैसा सोचा जाता है, निजी स्कूली–शिक्षा हमेशा कुछ बेहतर मूल्य ही नहीं देती है। एक और लेखक ने मूल्यांकन किया है कि सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की चुनौतियों के बावजूद किस प्रकार अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के लिए इसी क्षेत्र में प्रवेश करना एक स्वाभाविक विकल्प था, क्योंकि इसी तरह से वह बड़े स्तर पर सामाजिक परिवर्तन का असर छोड़ सकता था। शिक्षा का अधिकार कानून के महत्त्व को भी जगह मिली है और लेखक का विश्लेषण दिखाता है कि किस प्रकार यह कानून बच्चों के बारे में है न कि स्कूलों के, वे चाहे सार्वजनिक हों या निजी। एक वृत्तान्त शिक्षण और शिक्षा के साथ एक लम्बे सम्बन्ध के बारे में है, जो दशकों पहले शुरू हुआ था। एक अन्य लेख में शिक्षकों की स्कूल ही नहीं बल्कि बाहर की भूमिका की भी बात की गई है जिसमें वे परिवर्तनकारी व्यक्तियों के रूप में दिखाई देते हैं। सार्वजनिक शिक्षा के व्यक्तिगत अनुभव भी हैं जिनमें लेखकों द्वारा हासिल अन्तर्दृष्टि से मालूम होता है कि ये अनुभव कितने सार्थक और सन्तोषप्रद रहे हैं। इन सब लेखों में साझा धागा लेखकों का इन सरोकारों से पूरी तरह संलग्न होकर लिखने का है, जिसे ये वृत्तान्त बहुत समृद्ध और गहरा बनाता है और इन्हें एक प्रासंगिकता तथा सन्दर्भ भी प्रदान करता है।

हमेशा की तरह यह एक सामूहिक प्रयास है और मैं इस महत्त्वपूर्ण अंक को सम्भव बनाने में सम्पादक–मण्डल के कुशल सहयोग और मदद के लिए आभारी हूँ। व्यक्तिगत और सामूहिक तौर पर हमारे जीवन से जुड़े इस व्यापक विषय पर पाठकों की प्रतिक्रियाओं, राय और अनुभवों का स्वागत है। नीचे दिए जा रहे ई–मेल सम्पर्क पर हमें अपनी प्रतिक्रियाएँ लिख भेजें। (**अनुवाद** : रमणीक मोहन)

**प्रेमा रघुनाथ**
सम्पादक, लर्निंग कर्व
prema.raghunath@azimpremjifoundation.org

# सिंहावलोकन : लर्निंग कर्व के सलाहकार एस. गिरिधर से सम्पादक की बातचीत

**1. 'लर्निंग कर्व' की शुरुआत कैसे हुई ?**

नवम्बर 2004 में जब फाउण्डेशन को काम करते हुए दो साल से कुछ ऊपर हुए थे और उसके शुरुआती प्रोग्राम तथा पायलेट प्रोजेक्ट भी चल रहे थे तो महसूस किया गया कि फाउण्डेशन को अपना काम और योजनाएँ सरल तरीके से अपने शुभ–चिन्तकों, साथी संस्थाओं तथा रुचि लेने वाले लोगों के साथ साझा करने की स्थिति में होना चाहिए। इस तरह एक न्यूजलैटर की शुरुआत हुई।

**2. शुरुआत का न्यूजलैटर कितना बड़ा था ? पहले–पहल के पाठक कौन थे? यह किसके लिए निकाला गया था ? इसमें लिखने वाले कौन थे ?**

हमने इसे चार महीने में एक बार निकालने की योजना बनाई। 8 से 12 पृष्ठों तक का न्यूजलैटर, जिसमें हमारे काम/प्रोग्रामों की नवीनतम जानकारी हो, कोई लेख हो जो सार्वजनिक शिक्षा आदि जैसे मुख्य मुद्दों के इर्द–गिर्द हो। इसका अपेक्षित पाठक–वर्ग स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता में बेहतरी देखने के इच्छुक, सार्वजनिक शिक्षा में समता और गुणवत्ता के बारे में चिन्तित सब लोग थे। साथ ही स्कूली–शिक्षा से जुड़े सब संगठन और अधिकारी भी, वे चाहे सरकार के हों चाहे गैर–सरकारी संगठनों के।

**3. विषय आधारित लर्निंग कर्व का विचार कब और कैसे आया ?**

2008 के आसपास हमें महसूस हुआ कि लोगों को केवल फाउण्डेशन के काम आदि की जानकारी देने वाले एक सामान्य न्यूजलैटर की उपयोगिता बहुत ही सीमित है और 'लर्निंग कर्व' वास्तव में एक अधिक मौलिक और वास्तविक आवश्यकता को पूरा कर सकती है। शिक्षकों और शिक्षक–प्रशिक्षकों के लिए विभिन्न विषयों में काम आने वाली अच्छी, गहराई लिए हुए, आसानी से उपलब्ध सामग्री का बहुत अभाव था। हम ऐसा संसाधन निकालना चाहते थे जो हमेशा लोगों के पास रहे, जो लम्बे दौर के लिए ऐसी सन्दर्भ–सामग्री का काम करे जिसे शिक्षक और शिक्षक–प्रशिक्षक चर्चा के लिए इस्तेमाल कर सकें – कक्षा में, प्रशिक्षण और विकास के लिए, पाठ्यचर्या और सामग्री आदि के बारे में सोच–विचार के लिए। इस तरह हमने 'लर्निंग कर्व' के अंकों को एक न्यूजलैटर से आगे 'किसी एक विषय के इर्द–गिर्द पत्रिका' के रूप में बढ़ाने के बारे में सोचा। इसका अर्थ था कि अब यह 12 पृष्ठों का 'पढ़ें–और–दरकिनार करें' न्यूजलैटर न हो कर स्कूली–शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले कुछ बहुत ही ज्ञानी और शिक्षाविद लोगों के 15 से 25 ठोस लेखों के इर्द–गिर्द छपने वाली पत्रिका बन जाएगी। इसका अर्थ यह भी था कि प्रत्येक अंक तकरीबन 64 से 100 पृष्ठों के बीच का होगा। 'लर्निंग कर्व' के इस नए अवतार की शुरुआत विज्ञान–शिक्षा पर निकाले गए विशेष अंक से हुई। 'लर्निंग कर्व' के प्रकाशन से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सीखने का एक बहुत बड़ा अनुभव था। इसके बाद गणित, सामाजिक–विज्ञान, स्कूल–नेतृत्व, शिक्षा में खेल, शिक्षा में कलाएँ आदि अंक आए।

**4. संस्थापक के रूप में आप पत्रिका के वर्तमान स्वरूप और स्थिति के बारे में कैसा सोचते हैं ?**

किसी भी प्रकाशन को अपनी प्रासंगिकता बनाए रखने के लिए लगातार विकसित और बेहतर होना होता है। हम किसी भी तरह से यह नहीं कह सकते कि हम अब एक अच्छा प्रकाशन बन चुके हैं। ऐसा सोचना तो गिरावट की ओर जाने का पक्का रास्ता है। यह देखने के लिए कि इसे और बेहतर तथा उपयोगी कैसे बनाया जा सकता है, हमारे पास इस बात का एक पैमाना होना चाहिए कि पत्रिका की केन्द्रीय, मूल आवश्यकता क्यों और क्या है। पाठकों और इसे प्रयोग करने वालों से हासिल प्रतिक्रियाओं को विश्लेषित किया जाना चाहिए और उन पर कार्य भी होना चाहिए। हमें अधिक से अधिक लोगों को लेख लिखने के लिए शामिल करना चाहिए। हमें मुद्दों के बारे

में जागरूक रहना चाहिए और इस बारे में भी कि कौन–से लेख जमीनी स्तर पर सबसे अधिक उपयोगी पाए गए हैं। कौन–सा अंक अनुवाद होकर सबसे अधिक वितरित हुआ? और क्यों? इतना सब कहते हुए भी यह सन्तुष्टि तो है कि 'लर्निंग कर्व' एक अहम जरूरत को पूरा करती है, उसे सराहा गया है और विषय–सम्बन्धी गहराई को देखते हुए भी उसके लेख पहुँच और समझ से बाहर नहीं होते।

**5. आप आगे का क्या रास्ता देखते हैं ?**

अब विश्वविद्यालय से छपने वाले प्रकाशन और भी बेहतर होने होंगे। इसलिए गणित और विज्ञान आदि से सम्बद्ध प्रकाशनों को अपने लिए ऐसे मानदण्ड तय करने होंगे जो 'लर्निंग कर्व' द्वारा स्वयं के लिए तय मानदण्डों से बेहतर हों। जब इनका अनुवाद किया जाएगा और बड़े स्तर पर देश भर में सन्दर्भ–सामग्री तथा रेडी रेकनर के तौर पर उपयोग में लाया जाएगा, तो एक बार फिर इसकी उपयोगिता और सेवा की पुष्टि होगी।

*(मूल अँग्रेजी भाषा में लर्निंग कर्व का यह अंक रजत जयंती अंक है। गिरिधर जी से यह बातचीत इस विशेष मौके पर की गई है।)*

**अनुवाद :** रमणीक मोहन

# इस अंक में

## खण्ड क
# परिदृश्य


सार्वजनिक शिक्षा क्या है? 2
अनुराग बेहार

ब्रांड : सरकारी स्कूल 6
दिलीप रांजेकर

भारत में मानव विकास को समझना 10
अमरजीत सिन्हा

मैं अपनी आजादी चाहता हूँ : मुझे रास्ते का नक्शा मत बताओ! 16
रोहित धनकर

शिक्षा के लिए प्रतिबद्धता : क्या हम असफल हो रहे हैं? 22
हृदयकांत दीवान

सामाजिक स्तरीकरण पर शिक्षा के निजीकरण के प्रभाव 27
अमन मदान

क्या निजी स्कूल वास्तव में बच्चों के बेहतर अधिगम–परिणाम सुनिश्चित करते हैं? 31
डी.डी. करोपाडी

सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के लिए आर.टी.ई. अधिनियम का महत्त्व 35
बी.एस. ऋषिकेश

सार्वजनिक न्यूनताओं के लिए सार्वजनिक समाधानों की आकांक्षा करना 39
मानबी मजूमदार और कुमार राणा

## खण्ड ख

# कार्यक्षेत्र से


शिक्षा के साथ रोमांस 44
शरद चन्द्र बेहार

जमीनी स्तर से अवलोकन 49
एस. गिरिधर

सरकारी स्कूल प्रणाली के साथ हमारे अनुभव 52
आनन्द स्वामीनाथन

शिक्षा के क्षेत्र में कुछ संवैधानिक संघर्ष 57

निजी (Private) और सार्वजनिक (Public) पर कुछ असम्बद्ध विचार 58
अर्जुन जयदेव

वरदेनहल्ली स्कूल के बच्चों के साथ कुछ अनुभव 61
कमला मुकुन्दा

हमारी शिक्षा व्यवस्था में शिक्षकों की स्थिति 65
विमला रामचन्द्रन

स्वैच्छिक शिक्षक मंच : एक यात्रा का अनुभव (राजस्थान) 69
अभिषेक सिंह राठौड़

स्कूल तेरे कितने नाम... 73
राहुल मुखोपाध्याय और अर्चना मेहेंदले

शिक्षक अधिगम समुदाय – सुरपुर से प्राप्त अन्तर्दृष्टि 76
उमाशंकर पेरिओडी

शिक्षा तंत्र में संवाद और समन्वय 80
अनंत गंगोला और जगमोहन सिंह कठैत

कार्यपुस्तिकाएँ (वर्कबुक्स) या खेलपुस्तिकाएँ (प्लेबुक्स)? – राजस्थान सरकार के स्कूलों के लिए कार्यपुस्तिकाओं के निर्माण का अनुभव 83
आँचल चोमल

खण्ड क

# परिदृश्य

# सार्वजनिक शिक्षा क्या है?

अनुराग बेहार

सार्वजनिक (पब्लिक) शिक्षा के बारे में सार्वजनिक क्या है? इससे पहले कि हम इस सवाल पर जाएँ, एक बात हम बहुत ही सुरक्षित तौर पर कह सकते हैं – भाषा–प्रयोग के नजरिए से इस पर अब काफी व्यापक और बढ़ती हुई सहमति है कि जिन्हें युनाइटिड किंगडम और भारत में कभी पब्लिक स्कूल कहा जाता था, वे निजी स्कूल हैं; वे अधिकतर तो आर्थिक तौर पर सम्पन्न लोगों के लिए हैं और किसी भी तरह से सार्वजनिक शिक्षा के घेरे में शामिल नहीं हैं।

राज्य द्वारा लगाए गए करों की आय से 'चलने' और 'प्रशासित' होने वाले स्कूल सार्वजनिक स्कूल कहलाए जाते हैं। यहाँ मैं 'स्कूल' का प्रयोग व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ और इसमें पूर्व–प्राथमिक से लेकर महाविद्यालय तक सब शिक्षण–संस्थाएँ शामिल हैं। 'राज्य' में उसकी विभिन्न शाखाएँ शामिल हैं – वे भी, जिनकी प्रकृति बहुत हद तक स्वायत्त है लेकिन हैं आखिरकार वे राज्य–व्यवस्था का ही हिस्सा। एकत्र किए गए कोष में स्वयं स्कूल द्वारा शुल्क आदि से एकत्र साधन–संसाधन भी हो सकते हैं लेकिन अधिकतर तो यह राज्य द्वारा करों की वसूली से प्राप्त आय के माध्यम से ही पूरा होता है। सार्वजनिक स्कूलों की ऐसी व्यवस्था से ही सार्वजनिक शिक्षा बनती है।

यह 'सार्वजनिक शिक्षा' के प्रयोग के सन्दर्भ में आमतौर पर साझा समझ है। यह साझा समझ ठोस आधार लिए हुए है और अधिकतर परिस्थितियों के लिए पर्याप्त भी है। लेकिन जिन हालात का हम आज सामना कर रहे हैं, उनमें यह देखने के लिए कि यह विचार पर्याप्त है या नहीं, हमें कुछ अधिक ध्यान देना होगा। शिक्षा से हमारी आशाएँ लगातार बढ़ रही हैं लेकिन शिक्षा की हालत को लेकर बहुत व्यापक स्तर पर हमारी असन्तुष्टि है। राज्य पर आर्थिक दबाव के चलते सेवाएँ मुहैया करवाने के बाजार–आधारित निजी स्रोतों से सरल समाधान निकाले जाते हैं और बहुत बार ऐसे कदमों के अल्प एवं दीर्घकालिक नुकसानदायक प्रभाव की ओर से आँखें मूँद ली जाती हैं। बारीकी में जाएँ तो परिस्थितियों में अन्तर हो सकते हैं मगर बुनियादी तौर पर तो ये कई देशों में एक–सी हैं और भारत तक ही सीमित नहीं हैं।

'सार्वजनिक शिक्षा' के इस विशेष विचार की सीमा का अन्दाजा हमें इस बात से हो जाता है कि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी वाक्यांश को इस्तेमाल करने की होती है न कि 'राजकीय शिक्षा' (या 'राजकीय स्कूल') को। यदि सार्वजनिक शिक्षा का उपरोक्त विचार पर्याप्त और पूर्ण होता तो हम अर्थ या इरादे को खोए बिना 'राजकीय शिक्षा' का प्रयोग कर सकते थे। लगता है कि यह स्वाभाविक प्रवृत्ति इस जायज विचार से उत्पन्न होती है कि राज्य इस प्रकार की शिक्षा को सम्भव बना सकने वाली व्यवस्थागत प्रणाली या कार्यविधान है – लेकिन स्वयं में यह शिक्षा सार्वजनिक नहीं है।

हम वापिस उसी बात पर आते हैं – 'सार्वजनिक शिक्षा' में यह 'सार्वजनिक' क्या है? लगता है कि सबसे बुनियादी विचार यह है कि सार्वजनिक वह होता है जो सबके लिए समान तौर पर उपलब्ध हो – इसीलिए यह सार्वजनिक है। एक और इतना ही महत्त्वपूर्ण विचार इस में जड़बद्ध है – कि लोग किसी एक बात के लिए साथ आते हैं। इस मामले में, क्योंकि यह शिक्षा के सन्दर्भ में है, तो यह शिक्षा के माध्यम से लोगों के हित को बढ़ावा देने के बारे में है। इस तरह शब्द 'सार्वजनिक' के दो बुनियादी पहलू हैं – किसके लिए (सबके लिए समान रूप से) और किसलिए/क्यों (सार्वजनिक हित के लिए)।

इस दृष्टि से देखा जाए – यानी सबके लिए उपलब्ध होना और शिक्षा के माध्यम से लोगों के हित को बढ़ावा देने का उद्देश्य होना – तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तरह की शिक्षा को संचालित करने के लिए अधिकतर हालात में राज्य अच्छी स्थिति में हो सकता है। फिर भी, राजकीय शिक्षा एक प्रणाली या कार्यविधान है और जरूरी नहीं कि राजकीय तथा सार्वजनिक शिक्षा, दोनों की बात एक ही हो। यह बात और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक धुर सीमांत परिस्थिति का उदाहरण लेते हैं।

किसी भी निरंकुश राज्य की कल्पना करें। उसकी स्कूली व्यवस्था अपने विद्यार्थियों के दिमाग में राज्य के पक्ष में मतारोपण करती है और उसकी गिरफ्त को मजबूती देती है। यह राजकीय शिक्षा है लेकिन सार्वजनिक शिक्षा नहीं है। इस तरह का राज्य दावा तो कर सकता है कि यह सार्वजनिक शिक्षा है, लेकिन वह अच्छे समाज के बारे में उसके विचारों पर आधारित होगी, जिनमें स्वतंत्रता, स्वायत्तता, समानता के विचार तो निश्चित तौर पर शामिल नहीं होंगे।

सार्वजनिक हित के बढ़ावे के लिए शिक्षा के उपयुक्त उद्देश्य होने होंगे। ये उद्देश्य सार्वजनिक शिक्षा के विचार के केन्द्र में हैं। ये विभिन्न शैक्षिक प्रक्रियाओं और व्यवस्थाओं तथा केन्द्रीय रूप से पाठ्यचर्या के माध्यम से हासिल किए जाते हैं और प्रत्यक्ष होते हैं। फिलहाल हम सार्वजनिक हित को बढ़ावा देने वाले इन उद्देश्यों का हल्का–सा जिक्र करते हैं। एक ओर तो ये ऐसे व्यक्तियों के विकास के बारे में हैं जो स्वायत्त और विचारशील हैं, संसार के बारे में जानकार हैं और अर्थपूर्ण जीवन जीने की क्षमताएँ रखते हैं। दूसरी ओर उद्देश्यों में एक न्यायसंगत, करुणापूर्ण, मानवीय और दीर्घकालिक समाज का विकास भी शामिल है। उद्देश्यों के ये दो धागे मिलकर सार्वजनिक हित को बढ़ावा देते हैं। इस सन्दर्भ में ऐसी शिक्षा सबके लिए समान रूप से उपलब्ध होने की जरूरत और भी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वह सबके लिए समान रूप से उपलब्ध होने से ही अपने उद्देश्य भी हासिल कर पाएगी।

हम सार्वजनिक शिक्षा को इस परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो यह स्पष्ट होने लगता है कि यह किसी भी समाज के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। एक लोकतांत्रिक समाज में, जहाँ शिक्षा लोगों और समाज को विकसित करने के लिए सबसे (और शायद अकेली) व्यवस्थित प्रक्रिया होती है, सार्वजनिक शिक्षा समाज और लोकतंत्र के लिए बुनियादी बात हो जाती है।

क्योंकि हमने शिक्षा के उपयुक्त उद्देश्यों के महत्त्व और पाठ्यचर्या पर उसके प्रभाव को देखा है, तो आएँ, इसी की रोशनी में हम उद्देश्यों और पाठ्यचर्या के माध्यम से सार्वजनिक शिक्षा पर एक प्रकार के आक्रमण (या उसके क्षय) को भी देखें। यदि पाठ्यचर्या के उद्देश्य या उसकी विषयवस्तु किन्हीं समूहों की सनक भरी आवश्यकताओं के लिए या किसी विशेष विचारधारा की मर्जी के मुताबिक बदल जाएँ तो सार्वजनिक शिक्षा सार्वजनिक नहीं रह जाएगी और समाज तथा लोकतंत्र में उसकी केन्द्रीय भूमिका कमजोर होगी। बदलाव के इस प्रकार के प्रयास शायद साफ दिखाई देंगे और उनका विरोध भी होगा।

लेकिन आज लोगों के एक बड़े तबके द्वारा एक और खास तरह का बदलाव प्रतिपादित किया जा रहा है जिसका विरोध पर्याप्त तौर पर नहीं हो पा रहा। यह शिक्षा के उद्देश्यों से सम्बद्ध कथनों से शुरू होता है जो पाठ्यचर्या सम्बन्धी मुद्दों में परिवर्तित हो जाते हैं। यह बदलाव 'शिक्षा को हमारी अर्थव्यवस्था को अधिक गतिशील बनाना होगा', 'शिक्षा को रोजगारपरक होना होगा' आदि के बारे में है। ये कथन स्वयं में समस्याग्रस्त नहीं हैं। असल मुद्दा तो बाकी सब बातों से भी ऊपर आर्थिक उद्देश्यों को प्राथमिकता देने के कथित इरादे को बहुधा खुले तौर पर (और निहित रूप में तो लगभग हमेशा ही) अभिव्यक्त किए जाने का है।

आर्थिक उद्देश्य सार्वजनिक शिक्षा का अभिन्न अंग हैं। उदाहरण के लिए, लोगों को एक सार्थक जीवन जीने में मदद करना शिक्षा का एक उद्देश्य है। इसलिए आर्थिक कल्याण और कुशलक्षेम को पर्याप्त तौर पर तोलना होगा। लेकिन यदि आर्थिक उद्देश्यों पर ही लगातार बल दिया जाता है और इस तरह अन्य उद्देश्यों को कमजोर कर दिया जाता है, उद्देश्यों और पाठ्यचर्या को संकीर्ण कर दिया जाता है, तो यह सार्वजनिक शिक्षा को कमजोर करने के समान होगा। इससे शिक्षा मार्केट (और उसके प्रभावशाली समूहों) की सेवा में रहती है न कि सार्वजनिक कल्याण के लिए। यह हमला उतना ही अनैतिक और कुटिल है जितना कि अन्य प्रकार के हमले जो शायद इससे अधिक साफ तौर पर स्पष्ट हों।

अब हम उस मुद्दे पर आते हैं जो अधिक चर्चा में आता है – सार्वजनिक और निजी शिक्षा का मुद्दा और यह विषय, कि क्या निजी स्कूल सार्वजनिक शिक्षा का काम कर सकते हैं?

सैद्धान्तिक तौर पर देखें तो दो बुनियादें शर्तें पूरी कर ली जाएँ तो लोगों के लिए काम करने की भावना से प्रेरित निजी स्कूल द्वारा सार्वजनिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है (या वह उस का हिस्सा हो सकता है)। एक, वह सार्वजनिक हित के लिए तैयार पाठ्यचर्या को स्वीकारे और लागू करे। दो, वह सबको समान तौर पर

उपलब्ध रहे, फिर चाहे कोई किसी भी सामाजिक–आर्थिक स्थिति का क्यों न हो।

निजी स्कूल दूसरी शर्त को पूरा नहीं कर सकते क्योंकि यदि वे अपने खर्चे विद्यार्थियों के माध्यम से निकालने का इरादा रखते हैं तो आर्थिक रूप से वंचित बच्चे इसमें से निकल जाएँगे। इसी के चलते सार्वजनिक वित्तीय सहायता प्राप्त निजी स्कूलों का विचार सामने आया है जो फिर तथाकथित रूप से सार्वजनिक शिक्षा देने की बात को पूरा कर सकते हैं।

इसमें कोई शक नहीं है कि जब हम अपने सम्पूर्ण देश को (और बाहर) देखते हैं तो हमें सार्वजनिक भावना से प्रेरित कई निजी स्कूल मिल सकते हैं। इनमें से कुछ को राज्य की ओर से और कुछ को लोकोपकारी वित्तीय सहायता मिली हो सकती है। वे कोशिश करते हैं कि दोनों शर्तें पूरी कर सकें। ऐसा हो जाता है तो वे सार्वजनिक शिक्षा का हिस्सा माने जाने योग्य होंगे। लेकिन इस तरह के स्कूल अल्पसंख्या में हैं।

अधिकतर निजी स्कूल लोगों के लिए नहीं, अपने लाभ को ध्यान में रखकर चलाए जाते हैं। वे अपनी पाठ्यचर्या को सीधे तौर पर मार्केट की गतिशीलता की सेवा में संकीर्ण रखते हैं, सार्वजनिक कल्याण को ध्यान में नहीं रखते। साथ ही वे अच्छी शिक्षा तथा औपचारिक तौर पर आवश्यक पाठ्यचर्या का भी दिखावटी अनुमोदन करते हैं। वे सबको समान प्रवेश उपलब्ध नहीं करवाते। इस सन्दर्भ में आर्थिक रुकावटों के अलावा महत्त्वपूर्ण सामाजिक बाधाएँ भी रहती हैं (अकसर 'अकादमिक मापदण्डों' के रूप में)। वे इस विशिष्टता को अपनी प्रतिष्ठा के एक महत्त्वपूर्ण हिस्से के तौर पर देखते हैं – इसी से उनकी 'व्यापारिक' सफलता का पोषण होता है। इस प्रकार के कई स्कूलों की दिलचस्पी सार्वजनिक शिक्षा की तो बात अलग, शिक्षा में ही बहुत कम या बिल्कुल नहीं होती।

जानते–बूझते हुए भी अपने कान–आँख बन्द रखने वाला ही कोई व्यक्ति भारत में निजी स्कूलों की इस असलियत को नकार सकता है। 'सीखने के स्तरों' के मामले में भी यह स्पष्ट है कि निजी स्कूलों का प्रदर्शन सरकारी स्कूलों से बेहतर नहीं होता।[1] यह स्थिति भारत के लिए अनोखी नहीं है बल्कि सभी देशों में ऐसा ही है। निजी स्कूलों की पहले से अधिक संख्या (जिनमें राजकीय वित्तीय सहायता–प्राप्त स्कूल शामिल हैं) से भी शैक्षिक व्यवस्था के स्तर पर सीखने–सिखाने में कोई बेहतरी नहीं हुई है बल्कि ये अधिक असमानता और स्तरीकरण की ओर ही लेकर गए हैं।[1,2]

यह बिल्कुल भी हैरत की बात नहीं होनी चाहिए। अगर आप बाजार के मूलतत्ववाद की विचारधारा द्वारा पथभ्रष्ट हुए बिना बुनियादी बात के साथ बने रहते हैं तो इस का तो पहले से अन्दाजा लगाया जा सकता है।[2,3,4] कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो मूलभूत, बुनियादी बात यह है कि निजी संस्थाओं द्वारा स्कूल निजी उद्देश्यों के लिए स्थापित किए और चलाए जाते हैं – मसलन, लाभ, प्रतिष्ठा, राजनैतिक प्रभाव के लिए। हाँ, कम ही स्कूल इस बात को मानेंगे; वे हमेशा सार्वजनिक भले के प्रति कटिबद्धता का पर्दा ओढ़कर रखते हैं। लेकिन यह फिर बस एक आवरण ही है। जो संस्थाएँ सार्वजनिक भले के लिए न तो स्थापित की जाती हैं, न चलाई जाती हैं, चमत्कारिक तरीके से, अपने मूल इरादे के विरुद्ध जाकर सार्वजनिक भलाई उत्पन्न नहीं कर सकतीं। निजी स्कूल सार्वजनिक–शिक्षा नहीं दे सकते।

इसलिए सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था राजकीय स्कूलों के आधार पर ही हो सकती है। आवश्यक नहीं है कि राजकीय स्कूली व्यवस्था सार्वजनिक शिक्षा ही हो लेकिन एक सुदृढ़ राजकीय स्कूली व्यवस्था के बिना सार्वजनिक शिक्षा सम्भव नहीं है। और सार्वजनिक शिक्षा एक बेहतर समाज विकसित करने के लिए हमारे प्रयासों के केन्द्र में है – वह लोकतंत्र के लिए भी बुनियादी बात है।

भारत में हमें राजकीय स्कूली व्यवस्था को पुष्ट करने, उसे बेहतर बनाने की आवश्यकता है। इसके लिए कोई छोटे रास्ते उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन जिस बेहतर समाज का वायदा हमने संविधान में स्वयं के लिए किया है, उसके विकास हेतु होने वाले प्रयासों के लिए भी कोई छोटे रास्ते उपलब्ध नहीं हैं।

***टिप्पणी*** *:* सभी नोट उन आलेख–स्तम्भों को इंगित करते हैं जो लेखक द्वारा समाचार–पत्र 'मिन्ट' के लिए लिखे गए हैं और उसकी वेबसाइट 'लाइवमिन्ट' पर उपलब्ध हैं (http://www.livemint.com/).


1. 'Cost of Privatized Education', April 17, 2013.
2. 'Ideology of Education', October 30, 2013.
3. 'Myths of Privatopia', December 25, 2013.
4. 'Market no fix for Education', October 28, 2015.



**अनुराग बेहार** अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के सी.ई.ओ. तथा अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं। वे अज़ीम प्रेमजी फिलेंथोरिपी इनेशियेटिव तथा विप्रो के कॉर्पोरेट सोशल रिस्पोंसबिल्टी के कार्यों से बहुत नजदीकी से सम्बद्ध हैं। अनुराग पिछले 13 साल से भारत में शिक्षा में बेहतरी के प्रयासों में शामिल रहे हैं। वे सार्वजनिक व्यवस्थाओं, विशेष तौर से सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के निर्णायक महत्त्व की जोर–शोर से वकालत करते रहे हैं। इससे पहले व्यापार की दुनिया से सम्बद्ध होने और उसे अन्दर से देख पाने की वजह से वे बाजार की सम्भावनाओं और सीमाओं, दोनों से भली–भाँति परिचित हैं। पिछले कुछ सालों से वे पर्यावरण तथा उसके पारिस्थितिक वातावरण से सम्बद्ध मुद्दों से भी जुड़े रहे हैं। वे समाचार–पत्र 'मिन्ट' के लिए शिक्षा और पारिस्थितिक पर्यावरण के विषयों पर एक पाक्षिक स्तम्भ लिखते हैं। यह www.livemint.com पर उपलब्ध है। उन्होंने एक्स.एल.आर.आई. जमशेदपुर से एम.बी.ए. तथा राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, त्रिचि से इलेक्ट्रिकल एवं इलेक्ट्रॉनिक्स इंजिनियरिंग में बी.ई. किया है। उन्हें लम्बी दूरी की दौड़ लगाना अच्छा लगता है। उनसे anurag.behar@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रमणीक मोहन

# ब्रांड : सरकारी स्कूल

दिलीप रांजेकर

जब अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने ग्रामीण सरकारी स्कूलों के साथ काम करने और शासकीय स्कूली शिक्षा–व्यवस्था (न कि विशेष भौगोलिक इलाकों या स्कूलों) पर ध्यान केन्द्रित करने का बुनियादी निर्णय लिया तो वह शासकीय स्कूली व्यवस्था में मौजूद विभिन्न चुनौतियों के बारे में भली–भाँति जागरूक था। यह फाउण्डेशन के लिए कई तरह से एक स्वाभाविक निर्णय था।

हमने सामाजिक परिवर्तन में योगदान के लिए कई राहों का मूल्यांकन किया और शिक्षा हमें उनमें सबसे शक्तिशाली रास्ता लगा। शिक्षा के क्षेत्र में भी हमारे पास कई विकल्प थे – जैसे उच्च शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, प्रबन्धन–शिक्षा आदि। हमें एहसास हुआ कि सब शुरुआत तो स्कूली शिक्षा से होती है, इसलिए स्कूली शिक्षा के क्षेत्र को प्राथमिकता देते हुए काम करना एक स्वाभाविक निर्णय था।

1998 में उपलब्ध जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़ों से ज्ञात हुआ था कि हमारे देश के 84% बच्चे (ग्रामीण भारत के 88% से भी अधिक) सरकारी स्कूलों में पढ़ रहे थे। सबसे बड़ी चुनौती सम्भवतः यह थी कि करीब–करीब 59 मिलियन (5 करोड़ 90 लाख) बच्चे स्कूल से बाहर थे। PROBE की रिपोर्ट से बच्चों के स्कूल से बाहर रहने या स्कूल से बाहर धकेले जाने के कई कारणों का पता चला।

हमने यह भी पाया कि समाज के मध्य वर्ग और उससे ऊपर के लोगों ने सरकारी स्कूलों को त्याग दिया था – असल में तो उन्होंने अधिकतर सार्वजनिक सेवाओं को त्याग दिया है जैसे कि स्वास्थ्य, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, यातायात आदि। इसलिए सरकारी स्कूल में अब केवल उन तबकों के बच्चे आते हैं जिनके पास न तो आवाज है और न ही कोई विकल्प। स्वाभाविक ही था कि इसके चलते शासकीय व्यवस्था पर शिक्षा समेत बेहतर सार्वजनिक सेवाएँ प्रदान करने का दबाव बहुत हद तक घट गया।

कुछ समय बीतने के साथ हमें एहसास हुआ कि यह कितना व्यापक परिदृश्य है। 13 लाख स्कूल थे, 2 करोड़ 50 लाख बच्चे, 70 लाख शिक्षक और बाहर से स्कूलों को सहायता करने वाले 10 लाख लोग और भी थे। बड़ी व्यवस्थाओं को सम्भालने की समझ रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की प्रणाली में कुछ घटित कर पाने, कुछ हलचल करने के निहितार्थ को समझ सकता है – मुख्यतौर से इसके कद और आकार की वजह से। क्रियान्वयन की जटिलताएँ इस वजह से और भी बढ़ जाती हैं कि शिक्षा को 30 विभिन्न राज्यों द्वारा अपनी–अपनी स्थितियों, संस्कृतियों और सामाजिक–आर्थिक हालात के अनुकूल संचालित किया जाना है।

वर्ष 2000 में सर्व शिक्षा अभियान के आने के बाद सरकार द्वारा कई सकारात्मक कदम उठाए गए जिसके चलते स्कूलों और कक्षा–कक्षों की संख्या, शौचालय और पीने के पानी की सुविधाओं, शिक्षकों की नियुक्तियों की संख्या आदि में बहुत अधिक बढ़ोतरी हुई। लेकिन बहुत बड़ी संख्या में ऐसे स्कूल हैं जहाँ गुणवत्ता और समता नहीं हैं। आजादी के 68 साल और राष्ट्रीय शिक्षा–नीति के 30 साल बाद भी लड़कों और लड़कियों, शहरी और ग्रामीण के बीच के आँकड़ों में 25 प्रतिशत तक का अन्तर है।

असहज करने वाले कई मुद्दे हैं – सरकारी स्कूलों द्वारा शिक्षा का अधिकार के नियमों का पालन बहुत ही बुरी हालत में है, स्कूलों में शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात बहुत ही अपर्याप्त है, स्कूलों को अकादमिक सहायता देने के लिए निर्मित महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के पास बहुत ही अपर्याप्त संसाधन हैं – और यह बात परिमाण और गुणवत्ता, दोनों स्तरों पर लागू होती है। स्कूलों को उपलब्ध करवाए गए संसाधन भी बहुत अपर्याप्त हैं।

व्यवस्थागत स्तर पर कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक मुद्दे इस प्रकार हैं – (क) देश में शिक्षक–शिक्षा के लिए पाठ्यचर्या, उसकी अवधि, बुनावट और उसके कार्यान्वयन की गुणवत्ता (ख) रटन्त पर आधारित परीक्षा–प्रणाली (ग) शिक्षा के क्षेत्र के लिए हरफनमौला

पेशेवर विकसित करने हेतु लगभग किसी भी ऐसे शिक्षा–स्कूल का न होना जो आवश्यक शैक्षिक परिप्रेक्ष्य, विषयों, शिक्षाशास्त्र, शैक्षिक प्रबन्धन, मूल्यांकन, शिक्षा में तकनॉलाजी, प्रारम्भिक शिशु–शिक्षा, विशेष प्रकार से योग्य बच्चों के लिए शिक्षा आदि की गहरी समझ प्रदान करे। इसी का नतीजा है कि शिक्षा–व्यवस्था में उच्च गुणवत्तापूर्ण लोगों की बहुत कमी है। क्लस्टर, खण्ड, जिला और राज्य–स्तरीय अकादमिक संस्थाओं में लोगों की कमी का यह अकेला बड़ा कारण है। इसके बावजूद राष्ट्रीय शिक्षा नीति के तहत अनुशंसित भारतीय शिक्षा सेवा के निर्माण के लिए कोई दृढ़ निश्चय दिखाई नहीं देता।

उपरोक्त सबके अलावा व्यय हेतु सरकारी धन की जबरदस्त किल्लत के चलते सरकारी स्कूलों की छवि और प्रतिष्ठा बहुत हद तक कमजोर हुई है।

सरकारी शिक्षा व्यवस्था द्वारा क्रियान्वयन सम्बन्धी जिन समस्याओं का सामना किया जाता है, वे वैसी ही हैं जिनका सामना अधिकतर बड़ी संस्थाओं या संगठनों को करना होता है। इसलिए इन्हें केवल सरकार के सन्दर्भ में चर्चा में लाना न्यायोचित नहीं लगता। व्यक्तिगत तौर पर मुझे सरकार और कई बड़ी संस्थाओं/संगठनों के काम के तौर–तरीकों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखता। आमतौर पर ये मुद्दे पाए जाते हैं – निर्णयों का लागू किया जाना सुनिश्चित होना, प्रतिभाओं को भर्ती करना, बनाए रखना और उत्साहित करना, उनके अच्छे प्रदर्शन और गुणवत्ता को सुनिश्चित करना। निजी/कॉरपोरेट संस्थाओं को एक फायदा है – संस्था में काम करने वाले लोगों के पास एक मुद्दा होता है जिसके इर्द–गिर्द वे एकत्र हो जाते हैं, यानी पैसा या मुनाफा। दूसरी ओर, शिक्षा के बारे में विभिन्न हितधारकों का अलग–अलग नजरिया होता है।

सरकारी व्यवस्था में कुछ और दिक्कतें भी हैं – राजनैतिक हस्तक्षेप, किसी एक भूमिका के व्यक्ति के उस भूमिका में रहने के समयकाल की अनिश्चितता, प्रदर्शन के प्रबन्धन की संस्कृति न होने की वजह से जवाबदेही का न होना और जोखिम उठाने पर प्रशंसा का होना।

लेकिन इन सब बातों के बावजूद मेरे साथी और मैं, जो सरकारी स्कूलों और कार्यालयों में काफी जाते हैं, इन स्कूलों और कार्यालयों में बहुत कुछ ऐसा देखते हैं जो हमें प्रेरित करता है। यह सही है कि मजबूरियाँ और सीमाएँ तो एक–सी हैं लेकिन सभी भूमिकाओं (शिक्षक, विद्यालय प्रधानाचार्य, क्लस्टर–खण्ड–जिला अधिकारी तथा अभिभावक–समूह) में पर्याप्त लोग हैं जो अपनी–अपनी जिम्मेदारी को निष्ठा से निभाने के अपने तरीके से हमारे मन में अपने लिए बहुत सम्मान पैदा करते हैं।

उनका पक्का इरादा हमारी इस आशा को जीवित रखता है कि व्यवस्था अन्ततः लोगों की एक महत्त्वपूर्ण निर्णायक संख्या विकसित कर पाएगी जो कक्षा में वह परिवर्तन पैदा करेंगे जिसकी कल्पना हमारे संविधान, हमारी शिक्षा नीति और हमारी पाठ्यचर्या की रूपरेखा में की गई है। शिक्षा–प्रशिक्षण के कुछ जिला संस्थानों के प्रधानाचार्य अपने पथ पर बने रहते हुए स्कूलों के लिए कुछ सार्थक अकादमिक निवेश प्रदान कर रहे हैं – और वे आवश्यक मूलभूत ढाँचा, लोग तथा गुणवत्तापूर्ण मानव–संसाधन उपलब्ध न होने के बावजूद यह कर रहे हैं। देश भर के जिला–स्तरीय शिक्षा–प्रशिक्षण संस्थानों में उपलब्ध शिक्षकों की औसत संख्या केवल 10 है (जब कि मान्य संख्या 20 है) और उसमें भी विषय–सम्बन्धी विस्तार विषम है। ऐसे संस्थान भी हैं जहाँ केवल दो शिक्षकों की ही नियुक्ति है। लेकिन प्रधानाचार्य ने अपने हौसले को कम नहीं होने दिया है।

कुछ महीने हुए एक खण्ड शिक्षा अधिकारी से बातचीत के दौरान मैंने पूछा, "आप अपने खण्ड में 45% से भी अधिक एकल शिक्षक स्कूल होने के बावजूद काम कैसे चला रहे हैं?"

उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा, "एकल–शिक्षक स्कूलों की बात छोड़िए – मेरे खण्ड में तो 127 'शिक्षक–रहित' स्कूल हैं।" वे इन स्कूलों के शिक्षकों को बिना उनका स्थाई तबादला किए एक से दूसरे स्कूल में अस्थाई तौर पर भेज कर काम चला रहे हैं। वे खुश रहते हैं और जिम्मेदारी के जबरदस्त एहसास के साथ पूरे जोश से काम कर रहे हैं।

दूर–दराज के इलाकों के कई प्रधानाचार्य हैं जो एकल–शिक्षक और कुछ मामलों में 'शिक्षक–रहित' स्कूल होने के बावजूद पूरी मेहनत कर रहे हैं कि वहाँ पढ़ रहे बच्चे अच्छे से सीख पाएँ। संसाधनों के अभाव और व्यापक व्यवस्था द्वारा उपेक्षा के बावजूद वे पूरी कोशिश करते हैं कि उनके स्कूल साफ–सुथरे हों,

उपयुक्त एसेम्बली हो, शिक्षक सच्चे भाव से पढ़ाएँ, वंचित बच्चों का ध्यान रखा जाए, स्कूल प्रबन्धन कमेटी की नियमित (और सार्थक) बैठकें हों तथा उपस्थित बच्चों को सही ढंग से मध्याह्न भोजन मिले। वे सुनिश्चित करते हैं कि सरकार द्वारा उपलब्ध करवाई गई विज्ञान–किट का उचित इस्तेमाल हो। मैं ऐसे ही एक प्रधानाचार्य को दो सप्ताह पहले ही मिला और यह मेरे लिए एक बहुत ही संतुष्टिपूर्ण अनुभव था। इस स्कूल में पाँच कक्षाएँ थीं और प्रधानाध्यापक के अलावा बस दो ही शिक्षक थे। आप उनकी उपस्थिति को हर जगह महसूस कर सकते थे। और उनकी चिन्ता को भी, जो उस शिक्षक के प्रति भी झलक रही थी जिसे अपने पति और बच्चे को एक दुर्घटना में खोना पड़ा था। इस दुर्घटना में शिक्षिका को भी चोट लगी थी और उन्हें अब अचानक दौरे पड़ते थे..... स्कूल में हमारी मौजूदगी के दौरान भी हमने ऐसा देखा। जिस तेजी और चिन्ता से प्रधानाचार्य ने कदम उठाए, वह सच में देखने लायक बात थी। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि प्रधानाचार्य को अच्छे प्रदर्शन के लिए राज्यपाल से पुरस्कार भी मिल चुका है।

ऐसे शिक्षक भी हैं जो प्रतिकूल मौसम और दूरी की भी अवहेलना करते हुए स्कूल पहुँचते हैं, कक्षा में बच्चों का पूरा–पूरा ध्यान रखते हैं, अपने आसपास होने वाली नई बातों को समझने की कोशिश करते हैं और सुनिश्चित करते हैं कि बच्चों को अपने वातावरण से सीखने को मिले। ये शिक्षक स्वयं भी सीखने को तत्पर रहते हैं। ये अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के स्वैच्छिक शिक्षक मंचों की बैठकों में आते हैं – स्कूल के समय के बाद, इतवार तथा छुट्टी के अन्य दिनों में भी। वे अपने पेशेवर काम को एक नया अर्थ देना चाहते हैं। अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में हम यह बात कभी भी नहीं समझ पाए कि शिक्षकों को आमजन के द्वारा इतना बदनाम क्यों किया जाता है – खासतौर से उन लोगों द्वारा जो कभी सरकारी स्कूलों में गए ही न हों।

ऐसे मौके भी आए हैं जब सरकार के शिक्षा अधिकारियों के साथ हुई हमारी बैठकों में उन्होंने बच्चों द्वारा सरकारी स्कूल छोड़कर निजी स्कूलों में जाने सम्बन्धी भय और चिन्ता हमारे साथ साझा की। वे सब सहमत हैं कि सरकारी स्कूलों में बेहतर मूलभूत ढाँचा, अधिक योग्यता–प्राप्त और बेहतर तनख्वाह वाले अध्यापक, बेहतर अकादमिक मदद, सेवाकालीन प्रशिक्षण और अधिक प्रति–विद्यार्थी व्यय होता है। लेकिन उनमें से अधिकतर अपने बच्चों को निजी स्कूलों में दाखिल करवाते हैं और यह भी नहीं बता पाते कि ऐसा क्यों है। काफी चर्चा और छानबीन के बाद पता यह चलता है कि पिछले कुछ सालों से सरकारी स्कूलों की प्रतिष्ठा और ब्रांड को मार झेलनी पड़ी है। किसी न किसी तरह से निजी स्कूल ऐसा आभास देने में सफल रहे हैं कि उनकी शिक्षा अधिक गुणवत्तापूर्ण है। हाँ, यह बात किसी शोध के नतीजों पर आधारित नहीं है। बल्कि पिछले 12 साल के सब शोधों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि सार्वजनिक और निजी स्कूलों में दी जा रही शिक्षा की गुणवत्ता में कोई अन्तर नहीं है और अगर है भी तो सरकारी स्कूलों में यह कुछ अधिक है।

इसके अलावा इन कारकों पर भी ध्यान दें –

सरकारी स्कूलों पर यह कानूनी और सामाजिक जिम्मेदारी है कि वे दाखिला माँगने वाले प्रत्येक बच्चे को दाखिल करें। वे सामाजिक–आर्थिक वर्ग, जाति, धर्म या बच्चे के तथाकथित अकादमिक प्रदर्शन के आधार पर भेदभाव नहीं कर सकते। दूसरे अर्थ में, वे निजी स्कूलों की तरह कुछ विशेष बच्चों को चिह्नित करके प्रवेश नहीं दे सकते।

क्योंकि सरकारी स्कूलों के बच्चे अधिकतर सामाजिक–आर्थिक रूप से कमजोर तबकों से आते हैं, वे प्रारम्भिक शिशु–शिक्षा के सम्पर्क में बहुत कम या बस नाम को ही आ पाते हैं। उनके माता–पिता आमतौर पर निरक्षर या प्रथम पीढ़ी के साक्षर होते हैं और अपनी आजीविका हासिल करने के संघर्ष में लगे होते हैं और इसलिए अपने बच्चों के लिए शिक्षा सम्बन्धी सहायता देने की स्थिति में नहीं होते। इसलिए बच्चे भी पहली कक्षा में प्रवेश के लिए पूरी तरह तैयार नहीं होते। दूसरी ओर निजी स्कूलों के अधिकतर बच्चे स्कूल–पूर्व शिक्षा से रूबरू हो चुके होते हैं और सामाजिक–आर्थिक स्तर पर अधिक समृद्ध वर्ग से आते हैं और उनके माता–पिता उनके विकास के साथ सम्बन्ध बनाने की स्थिति में भी होते हैं।

सरकारी स्कूलों को इस बड़ी प्रतिकूल अवस्था से उलझना पड़ता है और आमतौर पर इसे कभी भी ध्यान में नहीं रखा जाता। अधिकतर निजी स्कूलों की तरह राजकीय स्कूलों में ध्यान केवल इस बात पर नहीं होता कि बच्चों को दसवीं कक्षा की परीक्षाओं में बेहतर प्रदर्शन करना है।

भारत की स्कूली व्यवस्था संसार भर में सबसे बड़ी है और प्रत्येक गाँव से एक किलोमीटर की दूरी के भीतर एक स्कूल होने की अद्‌भुत पहुँच इसकी अद्वितीय विशेषता है। जिस देश में मूलभूत ढाँचे का विकास (सड़कें, बिजली और पानी की आपूर्ति) बहुत पिछड़ा हुआ हो, समाज के सब तबकों तक शिक्षा की पहुँच बना पाना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

यदि इस उपलब्धि का लाभ उठाया जाना है तो हमें 'सरकारी ब्रांड स्कूल' को सक्रिय तौर पर बढ़ावा देना होगा। खोखले नारों के माध्यम से नहीं, बल्कि उन कमियों और कमजोरियों को सक्रिय तौर पर सम्बोधित करके, जो इस ब्रांड के लिए बाधा का काम कर रही हैं। हमारा विश्वास है कि यह सम्भव है। भारत जैसे देश के पास इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है कि वह अपनी सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को विकसित करे और सब बच्चों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया करवाकर इस ब्रांड को बढ़ावा दे।

**दिलीप रांजेकर** अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के संस्थापक सी.ई.ओ. हैं। वे विज्ञान में स्नातक हैं। उन्होंने व्यापार प्रबन्धन में स्नातकोत्तर डिप्लोमा तथा टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान, मुम्बई से पर्सोनल मैनेजमेन्ट एण्ड इंडस्ट्रियल रिलेशन्स में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त की है। उन्होंने 1976 में कैम्पस से विप्रो में प्रवेश किया। वे विप्रो की शुरुआत से उसकी संस्कृति, लहजे, प्रबन्धन तथा लोगों को विकसित करने से सम्बद्ध प्रक्रियाओं को दिशा देने वाले केन्द्रीय समूह के सदस्यों में से एक हैं। उनसे dkr@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रमणीक मोहन

# भारत में मानव विकास को समझना

अमरजीत सिन्हा

वर्ष 1986–87। राष्ट्रीय शिक्षा नीति का वर्ष। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 42वें दौर का वर्ष। एन.एस.एस.ओ. का घातक अभ्यारोपण– ग्रामीण भारत के छह से अधिक ग्रामीण क्षेत्रों में 69.23% महिलाओं ने स्कूल में दाखिला लिया ही नहीं। प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर बिहार की अनुसूचित जाति और आन्ध्र प्रदेश की अनुसूचित जनजाति की लड़कियों की ड्रॉप–आउट दर 100% रही!!

जाहिर है, स्वतंत्र भारत के पहले चार दशक स्कूल के दाखिले में सुधार लाने की दिशा में बुरी तरह से विफल रहे, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों और लड़कियों के मामले में।

2014। एन.एस.एस.ओ. का 71वाँ दौर। इसी वर्ष सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा के लिए सर्व शिक्षा अभियान को लागू हुए डेढ़ दशक बीते। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालय स्तर पर (आठवीं कक्षा) लड़कों और लड़कियों की कुल उपस्थिति के अनुपात में कोई अन्तर नहीं, 99% बच्चों ने स्कूल में दाखिला लिया, ग्रामीण या शहरी क्षेत्रों के 99% घरों से दो किलोमीटर के भीतर प्राथमिक स्कूल और 86% घरों से दो किलोमीटर की के भीतर उच्च प्राथमिक स्कूल। स्कूलों में सार्वभौमिक भागीदारी एक वास्तविकता बन गई है। गुणवत्ता और अधिगम की चुनौती बनी हुई है क्योंकि जितने बच्चे स्कूल में दाखिला लेते हैं और स्कूल जाते हैं और वे जितने साल स्कूली शिक्षा पाते हैं उसके अनुरूप सीखने और लेखन की दक्षता प्राप्त नहीं कर पाते। सामाजिक आर्थिक जनगणना या एस.ई.सी.सी. 2011 से पता चलता है कि प्राथमिक शिक्षा और साक्षरता पर बहुत देर से जोर देने का परिणाम कई परिवारों पर पड़ा, जहाँ बड़ी संख्या में 25 वर्ष से अधिक उम्र वाले सदस्य निरक्षर हैं। एस.ई.सी.सी. के अनुसार हालाँकि ग्रामीण क्षेत्रों में स्नातकों और हायर सेकेण्डरी पास लोगों की संख्या बढ़ी है लेकिन वह काफी कम है।

पिछला डेढ़ दशक मानव विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। सर्व शिक्षा अभियान (2001) के अलावा राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (2005) और राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी कार्यक्रम (2005) शुरू किए गए और प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना (पी.एम.जी. एस.वाई.) के तहत ग्रामीण सड़कों पर सम्मिलित रूप से जोर दिया गया। 15 वर्षों की इसी अवधि में शहरी क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च आर्थिक विकास हुआ और प्रति व्यक्ति की आय में अपेक्षाकृत तेजी से वृद्धि हुई (ICE 360 अध्ययन 2013–2014)। गरीब परिवारों में प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि से उनके पास कुछ अतिरिक्त पैसा आया जो स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने या स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च करने के काम आया।

प्राथमिक स्कूली शिक्षा में लड़कियों की भागीदारी में सुधार, आय में वृद्धि, राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के तहत प्राथमिक स्वास्थ्य प्रणाली को मजबूत बनाने के साथ–साथ सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता 'आशा' की भूमिका आदि यह दर्शाते हैं कि स्वास्थ्य और पोषण के सूचकों में सुधार हुआ है। कुछ सालों से (2003–05) शिशु मृत्यु दर 60 के आसपास स्थिर हो गई थी, वह 2013 में 40 से भी कम हुई है। कुल प्रजनन दर 2005 में 2.9 थी, वह 2013 में 2.3 हो गई है। सामान्य से कम वजन वाले बच्चों की संख्या 2004–05 में 42.1% थी, जो 2013–14 में घटकर 29.1% हो गई है। भले ही ये सुधार विश्व स्तर पर महत्त्वपूर्ण न हों लेकिन कुछ साल पहले हम जहाँ थे, अगर हम उससे इन आँकड़ों की तुलना करें तो यह कहा जा सकता है कि 1986–87 में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में हमारी जो स्थिति थी या इस सदी की शुरुआत में स्वास्थ्य के क्षेत्र में हमारी जो स्थिति थी, उसमें अवश्य ही बहुत महत्त्वपूर्ण सुधार हुआ है। सर्व शिक्षा अभियान से प्राथमिक शिक्षा की वित्तीय स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ हालाँकि राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के तहत दी गई निधि स्वास्थ्य के लिए सरकारी व्यय में सकल घरेलू उत्पाद के लिए एक मामूली सुधार थी। जाहिर है कि शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए सरकारी व्यय में हुई एक मामूली वृद्धि भी स्कूलों में लैंगिक समानता और स्वास्थ्य सूचकों में सुधार लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है। गुणवत्ता सम्बन्धी

चुनौतियों के लिए यह बात आवश्यक है कि शासन प्रणाली की न्यूनताओं को हटाने और संस्थागत विकास तथा शिक्षकों व स्वास्थ्य कर्मियों के पेशेवर विकास की न्यूनताओं को हटाने पर और ज्यादा बल दिया जाए। पिछले डेढ़ दशकों का समय पंचायतों में महिलाओं के आरक्षण का समय भी रहा है। यह साफ नजर आ रहा है कि कई ग्रामीण क्षेत्रों में, धीरे–धीरे ही सही लेकिन निश्चित तौर पर, महिला समाख्या के तहत महिलाओं के समूहों या राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन के तहत स्वयं सहायता समूहों में महिलाओं का सशक्तिकरण हो रहा है। इस अवधि में महिलाओं की साक्षरता में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। लेकिन चूँकि खाई काफी चौड़ी थी इसलिए अभी एक लम्बा रास्ता तय करना है। कई निर्वाचित महिला सरपंच अब अपने पति पर निर्भर नहीं हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के समाज में महिलाओं की भूमिका में एक प्रमुख सामाजिक बदलाव आ रहा है।

भारत के वैश्विक मानव विकास के दरजे में सुधार लाने के लिए क्या किया जाना चाहिए? इस प्रक्रिया में तेजी कैसे लाई जाए? यह बात ठीक है कि विविधताओं से भरा देश होने की वजह से भारत के सभी क्षेत्रों के लिए किसी एक आम समाधान के बारे में नहीं सोचा जा सकता, लेकिन ऐसी प्राथमिकताएँ हैं जिन पर सभी राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में ध्यान देने की आवश्यकता है। सबसे पहले तो विश्वसनीय सार्वजनिक प्रणाली पर ध्यान देना होगा। इसके लिए सार्वजनिक भर्ती और सार्वजनिक प्रबन्धन में सुधार करना होगा। हमें मजिस्ट्रेटों की अपेक्षा अधिक प्रबन्धकों की जरूरत है। सार्वजनिक प्रणाली में हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं होना चाहिए। स्कूलों को केवल मतदान केन्द्रों और शिक्षकों व स्वास्थ्य कर्मियों को मतदान के एजेंटों के रूप में नहीं देखा जा सकता। एक आदर्श शिक्षक और स्वास्थ्य कर्मी के चयन के लिए पारदर्शी तरीकों की योजना बनाने की जरूरत है। सच पूछा जाए तो दूरदराज के ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षकों और स्वास्थ्य कर्मियों को क्रमिक रूप से विकसित करने की आवश्यकता है।

दूसरी बात, स्वयं सहायता समूह और ग्राम संगठनों जैसे संगठनों की संस्थागत भागीदारी के साथ ग्राम पंचायत के स्तर पर सभी पहलों का सम्मिलन होना चाहिए क्योंकि मानव विकास में संकीर्ण नौकरशाही का कोई स्थान नहीं है। शिक्षा, साक्षरता, स्वास्थ्य, कौशल, आजीविका, साफ–सफाई, पानी, आवास, पोषण, कृषि और गैर–कृषि आजीविका, महिला सशक्तिकरण, सामाजिक न्याय आदि को मानव विकास के मिशन की सामान्य कार्रवाई का हिस्सा होना चाहिए – संधारणीय विकास के लिए मानव कल्याण ही सभी पहलों का लक्ष्य होना चाहिए।

तीसरी बात, मानव कल्याण हेतु पर्याप्त वित्तीय प्रावधान के लिए केन्द्र, राज्य और स्थानीय सरकारों द्वारा समयबद्ध प्रतिबद्धता होनी चाहिए। वित्तीयन तभी प्रभावी और सफल होता है जब वह समयोचित हो। स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में एक अच्छी कार्य प्रणाली की प्रतिकारी उपस्थिति की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी चुनौतियों के लिए संस्थागत समर्थन और देखभाल की सार्वजनिक प्रणाली की आवश्यकता होती है।

चौथी बात, निर्वाचित प्रतिनिधियों में जवाबदेही की भावना महिला स्वयं–सहायता समूहों जैसे सामुदायिक संगठनों की प्रतिकारी संस्थागत भूमिका के जरिए आ सकती है। यह एस.एच.जी./वी.ओ. जैसे गरीबों के संगठनों की प्रतिकारी उपस्थिति का निर्माण करेगा जो निर्वाचित सरपंच के प्राधिकार के एकाधिकार को चुनौती दे सकता है।

पाँचवीं बात, किसी भी सार्वजनिक सेवा के लिए लोगों और पेशेवरों की साझीदारी आवश्यक है। सूचना प्रौद्योगिकी जवाबदेही और पारदर्शिता के लिए एक अनूठा अवसर प्रदान करती है। निजी क्षेत्र वास्तव में सार्वजनिक प्रणाली के साथ जुड़ सकते हैं ताकि स्कूल, स्वास्थ्य सुविधाएँ, कौशल सम्बन्धी पहलें, कृषि व गैर–कृषि आजीविका के प्रयास बेहतर परिणाम दे सकें।

छठी बात, मानव विकास कार्यक्रमों के प्रबन्धन को नए कौशलों के साथ पर्याप्त रूप से मजबूत करना है। मानव विकास के लिए जिन सार्वजनिक प्रबन्धन सुधारों की जरूरत है उनके लिए संस्थानों को विकास और नियमन के लिए गढ़ना होगा। हमें अधिक प्रभावी ढंग से बेहतर शिक्षकों और स्वास्थ्य कर्मियों तथा कौशलों को विकसित करना होगा। शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं और स्वास्थ्य कर्मियों/नर्सों के कौशल के विकास की संस्थाओं को उत्कृष्टता का ऐसा केन्द्र बनना होगा जिसमें शिक्षा पाने वालों को गुणवत्ता के लिए कौशलों को सीखने में सहायता मिले। अच्छे शिक्षकों और स्वास्थ्य कर्मियों के लिए संस्थागत क्षमता निर्माण से न केवल हमारी घरेलू जरूरतें पूरी होंगी बल्कि इस तरह के कर्मचारियों के लिए जो अतृप्त वैश्विक माँग है, उसे पूरा करने में भी

मदद मिलेगी। आईटी और इण्टरनेट की उपस्थिति के बावजूद विभव में शिक्षकों और स्वास्थ्य कर्मियों की माँग बहुत अधिक है। इसलिए हम जिस वैश्विक श्रेष्ठता की खोज में लगे हुए हैं उसके लिए इन दोनों संस्थाओं (शिक्षक प्रशिक्षण और स्वास्थ्य कर्मियों/नर्सों) पर जोर देना बहुत जरूरी है।

सातवीं बात, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो कुछ भी हमने ऊपर कहा है उसे करने के लिए हमें अपने आर्थिक विकास की उच्च दर को सुनिश्चित करना होगा। जब परिवार की आय में वृद्धि होती है तभी वे स्कूली शिक्षा की प्रक्रिया में और स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं को पाने की प्रक्रिया में भाग लेते हैं।

### उच्च शिक्षा – चुनौती का सामना करना

उच्च शिक्षा में सकल नामांकन यानी माध्यमिक–उच्च माध्यमिक का पूर्ण होना। जो परिवार गरीबी से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहे हैं यह उनकी आकांक्षा भी है। कम से कम सिद्धान्त रूप में ही सही लेकिन लोकतंत्र अति निर्धन परिवारों की आकांक्षाओं को उजागर करता है क्योंकि इसमें जन्मना किसी को भी अधिगम या सीखने से वंचित नहीं किया जाता! भारत में उच्च शिक्षा में सकल नामांकन लिंग और सामाजिक असमानताओं के अन्तर को रेखांकित करता है। सकारात्मक विभेदीकरण की सभी पहलों और अल्पाधिकार प्राप्त लोगों के लिए सकारात्मक कार्रवाई के बावजूद उच्च शिक्षा में महिलाओं, आदिवासियों, दलितों की भागीदारी अन्य अधिक सुविधा प्राप्त वर्गों से काफी कम है।

उच्च शिक्षा में गुणवत्ता का सवाल सबसे बड़ी चुनौती है क्योंकि शिक्षित होते हुए भी रोजगार न मिलने वाली बात शिक्षा में सकल नामांकन की बढ़ती दरों पर सवाल उठाने लगी है। पिछले कुछ दशकों में निजी क्षेत्र में हुए विस्तार से लोगों को ज्यादा अवसर मिलने लगे हैं – खास करके उन लोगों को जो आर्थिक रूप से समर्थ हैं। लेकिन फिर भी गुणवत्ता, साम्यता और रोजगार की चुनौतियाँ निजी और सार्वजनिक रूप से वित्त पोषित संस्थानों के लिए प्रासंगिक बनी हुई हैं।

सकल नामांकन अनुपात (GER) के 20 प्रतिशत को पार करने के साथ ही भारत उच्च शिक्षा के 'सर्वव्यापीकरण' के चरण में प्रवेश कर रहा है और ऐसे में कुछ नीतिगत मुद्दों पर स्पष्टता आवश्यक है। सबसे पहले तो उच्च शिक्षा, कौशल और रोजगार के सम्बन्ध को बेहतर रूप से समझने की जरूरत है क्योंकि भावी विस्तार और सुधार को कौशल के मुद्दे का समाधान करना होगा। दुनिया भर में 'सर्वव्यापीकरण' के इस चरण में कौशल सम्बन्धी चुनौतियों पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसके लिए उच्च शिक्षा में कौशलों के लिए एक भली–भाँति परिभाषित क्रेडिट ढाँचा चाहिए। दूसरे, उच्च शिक्षा में विद्यार्थियों को दिए जाने वाले विकल्पों की चुनौती से निपटना होगा। इसके लिए शिक्षक के नेतृत्व में विकल्प पर आधारित क्रेडिट ढाँचे की जरूरत है। शिक्षक के नेतृत्व में इसलिए ताकि संस्थागत स्तर पर शिक्षाविदों के सरोकारों पर चर्चा और विचार–विमर्श हो सके, उभरती जरूरतों को पूरा करने के लिए संकाय के सदस्य आपस में मिलें और लचीलेपन को विद्यार्थियों के साथ जुड़ाव के एक सहमतिपूर्ण ढाँचे के तहत स्वीकृत सिद्धान्त के रूप में माना जाए। विकल्प आधारित क्रेडिट ढाँचे को अकादमिक समाज द्वारा संचालित किया जाना चाहिए और जहाँ वास्तव में विविधता ताकत हो वहाँ यह एकता का नुस्खा नहीं हो सकता।

तीसरे, विस्तार के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उच्च शिक्षा के बारे में एक उत्कृष्टता की भावना है और शायद यह बात ज्यादा आसान और बेहतर हो कि नई सार्वजनिक संस्थाओं को शुरू करने की कोशिश करने की बजाय मौजूदा सार्वजनिक संस्थाओं को ही मजबूत किया जाए। किसी भी संस्था को पनपने में कई दशकों का समय लगता है। चीन की परियोजना 985, जिसमें 39 विश्वविद्यालयों को विश्वस्तरीय बनाने के लिए फण्ड और लचीलापन दिया गया, एक ऐसा सबक है जो अनुकरणीय है।

नेतृत्व की गुणवत्ता उच्च शिक्षा संस्थानों को बना या बिगाड़ सकती है। उच्च शिक्षा संस्थानों के नेतृत्वकर्ताओं के लिए हमें खोज व चयन की कठोर प्रक्रिया अपनानी होगी। जिम्मेदार स्वायत्तता के साथ–साथ पेशेवर और अकादमिक रूप से विश्वविद्यालय के नेतृत्वकर्ताओं को चुनना ही साम्यता के साथ उत्कृष्टता पाने की कुंजी है।

गुणवत्ता की चुनौती के लिए एक ऐसी रूपरेखा की जरूरत है जो प्रत्यायन (accreditation), गुणवत्ता के आश्वासन और नियमन पर आधारित हो। अगर नियमन गुणवत्ता और उत्कृष्टता से समर्थित न हो और अगर यह उत्कृष्टता प्रत्यायन की भली–भाँति परिभाषित प्रक्रिया से न प्राप्त की गई हो तो मात्र नियमन प्रणाली मनमानी और अस्थिर हो जाती है। जब न्यूनतम मानकों को

तय करने की बात आए तो यही मापदण्ड सार्वजनिक और निजी संस्थानों पर लागू होने चाहिए। वस्तुनिष्ठ मान्यता की प्रक्रियाओं पर आधारित मानकों का न्यूनतम समायोजन एक ऐसा बेहतरीन तरीका है जो निष्पक्ष नियमन को स्थापित कर सकता है।

उच्च शिक्षा को प्रयोग और नवाचारों के लिए अकादमिक स्वतंत्रता की जरूरत होती है। विश्वविद्यालयों को इस बात की स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे जो कुछ पढ़ाना चाहते हैं उसकी रूपरेखा बना सकें और अपने पाठ्यक्रम और कोर्सों की योजना बना सकें। अनुरूपतावाद नाममात्र का होना चाहिए और शिक्षाविदों को इस बात की स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे पाठ्यक्रम को पुष्ट बना सकें। न्यूनतम मानक निर्धारित हों तो पाठ्यक्रम की अवधि भी लचीली होनी चाहिए। यू.जी.सी. और ए.आई.सी.टी.ई. जैसी नियामक संस्थाओं को पाठ्यक्रम के मामले में शैक्षिक और संस्थागत स्वतंत्रता का सम्मान करना चाहिए। इन नियामकों को संसार में चल रहे इसी प्रकार के सर्वोत्तम उदाहरणों से सीख लेनी चाहिए।

कौशलों को मुख्य धारा में लाने के लिए स्कूल प्रणाली के साथ जुड़ना होगा और ऐसे सामुदायिक कॉलेजों की स्थापना करनी होगी जो कुशल लोगों के उत्थान के लिए अवसर मुहैया करवाएँ। कौशलों में स्नातक और स्नातकोत्तर कोर्स एक ऐसा तरीका है जो पीएच.डी. नलसाजों और बढ़ई या काष्ठकारों के आविर्भाव को प्रोत्साहित कर सकता है। कौशल का सम्मान करने और केवल सफेदपोशी का कार्य करने के लिए शिक्षा पाने की सोच से परे जाने के लिए भारत को उनकी जरूरत है। इसके विकास के लिए तमिलनाडु के संकाय का प्रोफाइल एक बहुत ही रोचक जानकारी है। केवल यही एक ऐसा राज्य है जहाँ विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक कौशल उपलब्ध कराने वाली संस्थाओं (शिक्षक शिक्षा, पैरा डॉक्टर, पॉलिटेक्निक, चिकित्सा, नर्सिंग आदि) ने सामान्य बी.ए., बी.कॉम. और बी.एससी. जैसे कोर्सों की जगह ले ली है। हमारे केन्द्रीय भारत के क्षेत्र में इसी की जरूरत है जहाँ उत्कृष्टतापूर्ण कौशल आधारित विस्तार से जनसांख्यिकीय लाभांश को पाया जा सकता है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कौशल का मतलब सिर्फ मेक इन इण्डिया नहीं है। यह तो सेवा क्षेत्र की जरूरतों, शिक्षकों, स्वास्थ्य कर्मियों, नर्सों आदि के बारे में बात करता है।

सार्वजनिक निवेश भी बढ़ना चाहिए क्योंकि ऐसे कई उत्कृष्ट सार्वजनिक संस्थान हैं जिनको प्रतिकृत करने, नए परिसरों की स्थापना करने, राज्य और विदेशों में माँग पर आधारित विस्तार करने से उत्कृष्टता भी बढ़ेगी। जैसे हम निजी विश्वविद्यालयों को स्थापित करने में मदद करते हैं, ठीक वैसे ही हमें श्री राम कॉलेज ऑफ कॉमर्स, लेडी श्री राम कॉलेज, सेंट स्टीफेन्स कॉलेज, टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंस, एम्स, आई.आई.टी., एन.आई.टी. जैसी संस्थाओं को प्रोत्साहित करने के तरीके खोजने चाहिए ताकि अन्य राज्यों में इनकी शाखाएँ स्थापित की जा सकें। इसी प्रकार से राज्यों के सार्वजनिक विश्वविद्यालयों को पुनर्जीवित करने के लिए सार्वजनिक निवेश के द्वारा भौतिक बुनियादी ढाँचे, संकाय, शासन प्रणाली की न्यूनताओं के अन्तराल को दूर करने का प्रयास होना चाहिए। कुलपतियों और प्राचार्यों जैसे शैक्षिक नेतृत्वकर्ताओं के चयन में भ्रष्टाचार कतई स्वीकार्य नहीं है तथा उनका चयन एक ऐसी खोज समिति प्रणाली के माध्यम से किया जाना चाहिए जो पारदर्शी और सक्षम हो। यदि नेतृत्वकर्ताओं की उत्कृष्टता, अखण्डता और अकादमिक योगदान को व्यापक अभिस्वीकृति मिले तो इन संस्थाओं में अवश्य फर्क पड़ेगा। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि व्यक्तियों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। राज्य विश्वविद्यालयों के वित्त पोषण में शासन प्रणाली की न्यूनताएँ बिल्कुल नहीं होनी चाहिए। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों और संस्थानों (आई.आई.टी., एम्स आदि) तथा राज्य विश्वविद्यालयों के बीच एक जैविक सम्बन्ध विकसित किया जाना चाहिए। केन्द्रीय संस्थानों को गति निर्धारक की भूमिका निभानी चाहिए और उन्हें राज्य विश्वविद्यालयों व संस्थानों के साथ जैविक रूप से जोड़ा जाना चाहिए। राज्य विश्वविद्यालयों के पास संसाधन के रूप में जमीन है जो वास्तव में एक बहुत बड़ा संसाधन है। अगर बुनियादी ढाँचे, मानव संसाधन, उपकरण और प्रबन्धन में पर्याप्त निवेश किया जाए तो उन्हें उत्कृष्टता के सम्पन्न शिक्षा केन्द्रों में बदला जा सकता है बशर्ते कि उनके साथ संस्थागत शासन सुधार भी हों।

निजी विश्वविद्यालयों और संस्थानों की स्थापना की प्रक्रिया को सरल बनाने के साथ–साथ हमें शैक्षिक संस्थानों के प्रबन्धन के ढाँचे को अनिवार्य रूप से अलाभकारी पंजीकृत समिति से कम्पनी अधिनियम के तहत पंजीकृत संस्थाओं में बदलना होगा जिसमें शिक्षा के क्षेत्र में हुए मुनाफे के पुनर्निवेश का प्रावधान हो। इसके लिए उन्नीकृष्णन मामले में निर्णीत मुद्दों का जवाब

देने के लिए नए कानून की आवश्यकता होगी। स्कूल और कॉलेजों को ऊँचे प्रीमियम पर खरीदा और बेचा जा रहा है, लेकिन दुर्भाग्य से, वे सभी अलाभकारी पंजीकृत समितियाँ हैं जो अधिशेष को उत्पन्न तो करती हैं पर मुनाफा नहीं कमा रहीं। इस वजह से खातों में हेरफेर होता है। इसके अलावा बैंक शैक्षिक संस्थानों की स्थापना के लिए पैसे उधार नहीं देते क्योंकि वे अलाभकारी ढाँचे पर स्थापित होते हैं। इस वजह से शिक्षा–निवेशक या तो अपने स्वयं के/कम्पनी के अधिशेष (अज़ीम प्रेमजी, शिव नाडर) का उपयोग करते हैं या दान के माध्यम से फण्ड जुटाते हैं। साथ ही कुछ मामलों में गुप्त रूप से लिए हुए कैपिटेशन धन, काले धन और भ्रष्टाचार से बचाए हुआ धन का शिक्षा के क्षेत्र में निवेश हो जाता है क्योंकि शैक्षिक विस्तार बैंक से वित्त पोषित नहीं है। शैक्षिक उद्यमियों को प्रोत्साहन देने के लिए शैक्षिक संस्थानों को कम्पनी अधिनियम के तहत अनुमति देने की आवश्यकता है ताकि वे वास्तव में मुनाफा कमा सकें और बैंकिंग संस्थान की नजरों में वह उद्यम आर्थिक रूप से लाभप्रद बन जाए।

हमें ऐसे कई और शिक्षाविद उद्यमियों की जरूरत है जो उत्कृष्टतापूर्ण संस्थान बना सकें। हम इस बात पर तो जोर दे ही सकते हैं कि कुछ सालों तक मुनाफे को वापस शिक्षा के क्षेत्र में लगा दिया जाए।

देश की काफी बड़ी युवा आबादी बेरोजगार, अनियोजित या निम्न क्रम के कौशल और क्षमता वाला कार्य कर रही है, इसलिए हमारी सबसे बड़ी चुनौती है कौशलों का विकास करना तथा स्कूली शिक्षा की समाप्ति तक जीवन कौशल और क्षमताओं का विकास करना। इसके लिए समाज को यह प्रयास करना होगा कि निजी या सार्वजनिक प्रणाली में जितना सम्भव हो उतने लचीले ढंग से ऐसे कौशल पाने के अवसर प्रदान करे जिनका परीक्षण और प्रमाणन किया जा सके और जिसे वह उद्योग या सेवा–क्षेत्र रोजगार के प्रयोजन के लिए मान्यता दे। व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदाताओं, पाठ्यक्रम निर्माण, कौशल और क्षमताओं के अधिग्रहण के परीक्षण, उद्योग और व्यापार के साथ सम्पर्क या अन्तःक्रिया, जनशक्ति नियोजन और पूर्वानुमान के साथ जुड़ना, बहु–कुशलता (मल्टी स्किलिंग) के प्रत्यायन (accreditation) के लिए ऊपर बताए गए सिद्धान्तों पर भली–भाँति तैयार की गई स्वायत्त संस्थानों की रूपरेखा को स्थापित करना होगा। मजबूत संस्थानों का विकास करना भारत की सबसे बड़ी चुनौती है।

अच्छे राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थानों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे प्रान्तीय शैक्षिक संस्थानों के साथ साझेदारी करें, उन्हें सहारा और समर्थन दें, उनकी क्षमताओं और व्यावसायिकता का निर्माण करें। इसी तरह विदेशी विश्वविद्यालयों के साथ साझेदारी प्रमाणों पर आधारित ढाँचे के भीतर, राष्ट्रीय संस्था और संकाय के मजबूत केन्द्रक के साथ, विश्व स्तर पर प्रसिद्ध संस्था के साथ जुड़ने वाली होनी चाहिए। इसके अलावा इस बात पर भी जोर देना चाहिए कि इन वैश्विक संस्थाओं से अच्छे संकाय को लिया जाए अन्यथा भागीदारी का महत्त्व सीमित हो जाएगा। विश्वविद्यालयों के नियमन की संरचना में सुधार किया जाना चाहिए ताकि अधिक से अधिक साक्ष्य आधारित नवाचारों को बढ़ावा मिले और जिससे उत्कृष्टता और साम्यतामय विस्तार को प्रोत्साहन मिले।

अब समय आ गया है कि हम अध्यापन के पेशे में अच्छे मानव संसाधन को बनाए रखने के तरीकों के बारे में सोचें। हमें प्रमाणों पर ध्यान देना है और ऐसी रूपरेखा तैयार करनी है जो बुद्धिमान लोगों को वापस शिक्षण की ओर ले जाए। सहायक संकाय के रूप में शिक्षकों के लिए गुणवत्ता से समझौता किए बिना पात्रता की शर्तों में लचीलापन लाया जाए तो उद्यम से शिक्षण या शिक्षण से उद्यम में जाना सम्भव हो सकेगा। तमिलनाडु में सार्वजनिक स्वास्थ्य संवर्ग के साथ ऐसा बहुत प्रभावी ढंग से किया जाता है। उच्च वेतन के अलावा आवास, अनुकूल वातावरण, शोध के लिए समर्थन जैसी बातें लोगों को 'रिवर्स सबैटिकल' की ओर प्रोत्साहित करेंगी। सहायक संकाय के लिए एक ऐसी उदार नीति को प्रोत्साहन देना चाहिए जो उद्यम–अकादमिक संचार को बढ़ावा दे और अन्तर–अनुशासनात्मक विचार प्रक्रियाओं को उत्पन्न करे। शिक्षण संस्थानों में व्यवसायी अन्तर्दृष्टि अत्यन्त मूल्यवान होती है। जरूरत इस बात की भी है कि उन अक्षम लोगों को प्रणाली से बाहर निकाला जाए जिनकी तैनाती अपनी योग्यता के बलबूते पर नहीं बल्कि अपने सम्पर्कों और अधिकार के आधार पर हुई। सार्वजनिक प्रणाली में लोगों की भर्ती और नौकरी के हालातों में बहुत सुधार की आवश्यकता है ताकि अक्षम लोगों से बचा जा सके। इसके लिए नए कानून की जरूरत पड़ेगी अन्यथा केस के कानूनों में निहित सेवा की सुरक्षा के प्रावधानों की समस्या सामने आएगी। अब समय आ गया है कि हम सरकारी खजाने पर जीने वाले ऐसे लोगों के अधिकार पर फिर से नजर डालें जिनका

कार्य–निष्पादन सन्तोषजनक नहीं है। अगर हम ऐसा न करें तो समाज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अगर हम चाहते हैं कि शैक्षिक सुधार भारत को बदलें तो शासन की न्यूनताओं को टालना ठीक नहीं। वे सार्वजनिक प्रणाली, उनकी कथित अक्षमता और उनके विकास की विफलता के मूल में हैं। हमें विश्वसनीय सार्वजनिक प्रणाली का सृजन करना है और ऐसा करने के लिए हमें प्रमाणों की मदद से सार्वजनिक भर्ती और सार्वजनिक प्रबन्धन का सुधार करना है।

शैक्षिक सुधार भारत को बदलने का और विशाल युवा आबादी को जनसंख्यिकीय लाभांश में बदलने का सबसे स्थायी रास्ता है। सकल घरेलू उत्पाद में छह प्रतिशत सार्वजनिक व्यय बढ़ाने और उत्कृष्टता व साम्यता के साथ विस्तार के लिए बड़े पैमाने पर निजी क्षेत्र के निवेश को सुविधाजनक बनाने के द्वारा भारत दस साल की समय सीमा में चीन के शैक्षिक विस्तार की दर से आगे निकल सकता है। युवा भारत के लिए यह बहुत अच्छा अवसर है, एक ऐसा भारत जो दुनिया को सबसे बड़ा कार्यबल प्रदान कर सकता है। सतत आर्थिक विकास और मानव कल्याण की उच्च दर हमारी इस क्षमता पर टिकी हुई है कि हम राष्ट्रीय परिवर्तन के वाहन के रूप में शिक्षा का उपयोग किस तरह से करते हैं। समावेशी भारत के लिए यही एक रास्ता है।

**अमरजीत सिन्हा** एक प्रशासनिक अधिकारी हैं और मानव विकास में गहरी रुचि रखते हैं। वे सर्व शिक्षा अभियान और राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन की रचना करने वाली टीम में भी थे। उन्हें भारत के 643 जिलों में से 576 जिलों का दौरा करने और 15 से भी अधिक वर्षों तक भारतीय प्रशासनिक सेवा के प्रशिक्षु अधिकारियों के लिए सामाजिक क्षेत्र के मॉड्यूल को संचालित करने का गौरव भी प्राप्त है। उनसे amarjeetsinha@hotmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# मैं अपनी आजादी चाहता हूँ : मुझे रास्ते का नक्शा मत बताओ!

रोहित धनकर

अक्सर हमें सवाल के वेष में एक आरोप सुनाई पड़ता है : राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की क्या जरूरत है? आगे की बातचीत में यह आरोप कैसा रूप धारण करता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि आरोप लगाने वाला अपने आपको कितना तार्किक, सरोकारी या आमूलचूल परिवर्तनकारी दिखलाना चाहता है। उनमें से कुछ इस तरह से हो सकते हैं : हमारे देश का सांस्कृतिक व प्राकृतिक परिवेश इतना विशाल और विविधतापूर्ण है कि शिक्षा की कोई भी एकल योजना कभी भी सभी के लिए मुनासिब हो इसकी उम्मीद ही नहीं की जा सकती। इसके लिए एक मूल सिद्धान्त का अक्सर हवाला दिया जाता है कि, 'एक ही नाप का जूता हरेक के पैर में कैसे पहनाया जा सकता है?' या फिर, यह कहा जा सकता है कि पाठ्यचर्या अध्यापक तथा शिक्षार्थी दोनों को ही जंजीरों में जकड़ देती है। उनकी रुचियों को नजरअन्दाज कर दिया जाता है, उनकी सृजनात्मकता का गला घोंट दिया जाता है और उनकी उत्सुकता का कत्ल कर दिया जाता है; बच्चों को आजाद छोड़ दिया जाना चाहिए। या फिर, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या इतनी आदर्शवादी है कि शिक्षा के व्यावहारिक कामकाज के लिहाज से वह किसी काम की नहीं है, इसलिए लोग उसे नजरअंदाज कर देते हैं।

ये सभी व्यक्ति मुझे ऐसे लगते हैं जैसे कोई नाविक यह घोषणा कर रहा हो कि 'मुझे मेरी आजादी चाहिए, मेहरबानी करके रास्ते का नक्शा मेरे मत्थे ना मढ़ें।' बेशक नाविक अपनी लम्बी समुद्री यात्रा में बगैर नक्शे के भटक जाएगा। इसी तरह ये नवाचारी लोग भी शिक्षा के इस विकट समुद्र में भटक जाएँगे। इन सभी आरोपों का ठीक से जवाब देने के लिए आइए हम राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के उपयोग व दुरुपयोग पर एक त्वरित नजर डाल लेते हैं।

## राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली

1976 से पहले शिक्षा राज्य का विषय होती थी, इसे 42वें संविधान संशोधन के जरिए समवर्ती सूची में शामिल किया गया। जिसका तकनीकी तौर पर यह मतलब होता है कि उससे पहले बनाई गई पाठ्यचर्या की कोई भी रूपरेखा 'राष्ट्रीय' नहीं हो सकती थी। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 कहती है कि '1986 में पहली बार पूरे देश के लिए एक समान राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनी'(राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, पृ.4)। हमारे पास 1968 में संसद द्वारा स्वीकार की गई राष्ट्रीय शिक्षा नीति थी। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में आया वाक्यांश 'पहली बार' इस बात की तरफ इशारा करता है कि हालाँकि हमारे पास राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 थी, लेकिन संसद ने उसका अनुमोदन तब किया था जब शिक्षा राज्य का विषय हुआ करती थी, जो कि 'राज्य सरकारों को अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले विद्यालयी शिक्षा से जुड़े सभी मामलों के सम्बन्ध में निर्णय लेने की अनुमति देती थी, इन मामलों में पाठ्यचर्या भी शामिल थी।' (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपेरखा 2005, पृ.3) और 'केन्द्र राज्यों को नीतिगत मसलों पर सिर्फ मार्गदर्शन कर सकता है।'(वही)

हालाँकि, राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श इससे काफी पुराना है। पिछली सदी के शुरुआती दो दशकों में इस मुद्दे पर देश व्यापी बहस हुई थी, जिसमें बहुत से व्यक्तियों ने औपनिवेशिक शिक्षा की वजह से भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना पर पड़ने वाले बुरे असरों को दर्ज किया था और उसकी जगह पर शिक्षा की एक राष्ट्रीय प्रणाली को लाने की ख्वाहिश जाहिर की थी। अरविन्द ऐसी शिक्षा चाहते थे जिसकी जड़ें भारतीय हों और जो इंसानी दिमाग की सांख्य व योग आधारित समझ पर आधारित हो।[1] लाला हरदयाल ने जोशीले राष्ट्रवाद के साथ औपनिवेशिक शिक्षा की आलोचना की और भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्र के लिए प्यार पर आधारित शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली की वकालत की।[2] टैगोर ने तर्क दिया कि किसी भी देश के लिए वही विश्वविद्यालय सही रहेगा जो वहीं के राष्ट्रीय सांस्कृतिक संसाधनों की मदद से बनाया जाए।[3] जो तर्क उन्होंने विश्वविद्यालय के लिए दिया था वही तर्क उनके लिए विद्यालयी शिक्षा के लिए भी मायने रखता था, जैसा कि हम देखते हैं कि वे अपने विद्यालय के लिए प्राचीन भारत के तपोवन के आदर्श से प्रेरणा हासिल करते हैं।

लाला लाजपत राय[4] शिक्षा के राष्ट्रीयकरण की कई कोशिशों का व्यवस्थित विश्लेषण करते हैं और उनमें से कुछ को साम्प्रदायिक कहकर खारिज कर देते हैं। शब्दों की किसी भी किस्म की बाजीगरी का इस्तेमाल किए बगैर वे कहते हैं कि, ''दयानन्द एंग्लो वेदिक कॉलेज, अलीगढ़ का द मोहम्मडन कॉलेज, लाहौर का आर्य कॉलेज, बनारस का हिन्दू कॉलेज, सभी अपने–अपने संस्थापकों के 'राष्ट्रीय' आदर्शों को साकार करते थे या उनकी नुमाइंदगी करते थे लेकिन उसी के साथ–साथ वे संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक थे, जो उस समय के राष्ट्रीय आदर्शों की सीमा थी।'' उन्होंने दलील दी कि इनमें से कोई भी राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श नहीं हो सकता। ''मेरे विचार से बंगाल की राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् द्वारा की गई कोशिश, जो कि अपने किस्म की अकेली थी, सही मायने में राष्ट्रीय थी। राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् द्वारा लागू की गई योजना अपर इण्डिया आन्दोलन के **साम्प्रदायिक रंग से मुक्त** थी।'' (पृ. 24, शब्दों पर अतिरिक्त बल हमारी ओर से दिया गया है।) यह राष्ट्रीय शिक्षा के सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को सामने रखता है व उसके लिए दलील देता है कि: उसे गैर–साम्प्रदायिक होना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहास की इस बहुत ही छोटी–सी यात्रा का मकसद उन थोड़े–से सिद्धान्तों को उजागर करना है जिन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय पाठ्यचर्या को दिशा देने में अपनी भूमिका अदा की। ऐसा ही एक और सिद्धान्त बहुत से भारतीयों के दिमाग में सबके लिए साम्प्रदायिक भेदभाव से मुक्त समान शिक्षा का था। एक दूसरा यह था, कि शिक्षा का काम राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करना होना चाहिए। तीसरा आदर्श राष्ट्रीय सांस्कृतिक, राजनैतिक व आर्थिक जीवन में योगदान करना था और सबसे आखिरी किन्तु महत्त्वपूर्ण आदर्श था– एक स्वतंत्र व्यक्ति का विकास करना।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्याओं के बनने की चर्चा की ओर लौटते हुए हमें इस बात को जरूर याद रखना चाहिए कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968 (शायद 1950 में बने राधाकृष्णन आयोग से ही) से सभी दस्तावेज राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली पर जोर देते रहे हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968 के बाद दस्तावेजों में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के कुछ प्रमुख पहलुओं ने साफ–सुथरा आकार ग्रहण करना शुरू किया। उन्हें समझने की कोशिश करना सार्थक ही रहेगा।

### शिक्षा के प्रयोजन तथा लक्ष्य

इस पहलू को अच्छी तरह से समझने के लिए हमें कई बातों का ध्यान रखना चाहिए : पहला, इस बात से हमें हैरानी नहीं होनी चाहिए कि प्रयोजन व लक्ष्यों का मसला शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली की बहस में शायद सबसे पुराना है और यह बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में प्रमुख जगह रखता था, जैसा कि हमने चर्चा में देखा। दूसरा, हमें 'शिक्षा के सामाजिक प्रयोजनों' तथा 'शिक्षा के लक्ष्यों' में अवधारणात्मक फर्क कर लेना चाहिए।

मैं इस लेख में 'सामाजिक प्रयोजनों' का जिक्र सिर्फ 'प्रयोजन' कहकर करूँगा। शिक्षा के प्रयोजन का ताल्लुक उस किस्म के समाज से होता है, जैसा समाज हम शिक्षा के जरिए बनाना चाहते हैं और जिस तरह के सामाजिक बदलाव हम इसके जरिए करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, जब कोठारी आयोग चाहता है कि शिक्षा 'सामाजिक बदलाव का औजार' बने, या राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968 यह चाहती है कि शिक्षा 'राष्ट्रीय विकास को बढ़ावा देने में अपनी आवश्यक भूमिका निभाए, सामान्य नागरिकता व संस्कृति का अहसास सृजित करे और राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा दे' तब वे शिक्षा के प्रयोजनों की बात कर रहे होते हैं। वे इस बात से ताल्लुक रखते हैं कि हम किस किस्म का समाज चाहते हैं और इसके साथ ही यह भी चाहते हैं कि उस समाज को साकार करने की कोशिशों में शिक्षा अपना योगदान करे।

दूसरी तरफ शिक्षा के लक्ष्य सीधे–सीधे इस बात की सिफारिश करते हैं कि हम समाज के वैयक्तिक सदस्यों में किस किस्म की समझ, क्षमताओं, मूल्यों, कौशलों आदि का विकास करना चाहते हैं। उसी दस्तावेज (राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968) से उदाहरण लेते हैं। जब वह कहता है कि, 'शिक्षा प्रणाली से ऐसे चरित्रवान तथा क्षमताओं वाले युवा स्त्री–पुरुष निकलने चाहिए जो कि राष्ट्र की सेवा व विकास के लिए प्रतिबद्ध हों।', तब वह शिक्षा के लक्ष्यों की बात कर रहा होता है। यहाँ पर जिन गुणों का जिक्र किया गया है उनका व्यक्तियों में विकास करना शिक्षा का लक्ष्य है जो कि आगे जाकर शिक्षा के सामाजिक प्रयोजनों को पूरा करने में मदद करेगा। बेशक, ये दोनों एक–दूसरे पर निर्भर हैं। इसके

साथ ही इनका बहुत–सा हिस्सा एक–दूसरे में समाया रहता है, इसलिए इन पर चलने वाली बहस लगातार दोनों में फर्क किए बगैर एक से दूसरे में आती–जाती रहती है।

शिक्षा पर राष्ट्रवादी बहस की शुरुआत से ही कुछ प्रयोजन शिक्षा में लगातार बने रहे हैं : एक राजनैतिक तौर पर मजबूत, समरसतापूर्ण, आर्थिक तौर पर समृद्ध और लोकतांत्रिक देश बनाना। छोटे–मोटे बदलावों के साथ ये प्रयोजन शुरू से लेकर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 तक में देखे जा सकते हैं। जैसे ही हम आजादी के नजदीक पहुँचते हैं, लोकतंत्र और भी ज्यादा अहम राष्ट्रीय लक्ष्य और इसी वजह से शैक्षिक प्रयोजन बन जाता है।

इन प्रयोजनों से व्यक्तियों के गुणों के तौर पर शैक्षिक लक्ष्य निकाले जाते हैं : तर्क कुछ इस तरह से होता है, 'अगर हम इस किस्म का समाज व देश चाहते हैं तो उस समाज को गढ़ने व बरकरार रखने के लिए उसके नागरिकों में किस तरह की क्षमताएँ चाहिए?' परिणामस्वरूप, शैक्षिक लक्ष्यों में व्यक्तियों के कुछ गुण होते हैं जो पिछली एक शताब्दी से स्थाई बने हुए हैं। इसके साथ ही स्वतंत्र ढंग से व साफ–सुथरे तरीके से सोचने की क्षमताएँ, भारतीय संस्कृति में जड़ें जमाए रखना, न्याय व बराबरी के लिए प्रतिबद्धता, रवैये में 'सेकुलर' होना व आर्थिक उत्पादन में भागीदारी करने की क्षमता भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

दरअसल, राष्ट्रीय शिक्षा नीति की जरूरत को सिर्फ इन प्रयोजनों व शिक्षा के लक्ष्यों की बुनियाद पर ही न्यायसंगत ठहराया जा सकता है। इसलिए, राष्ट्रीय शिक्षा नीति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू शिक्षा के प्रयोजन व लक्ष्य होते हैं, जिनके बारे में माना जाता है कि वे पूरे देश में शिक्षा का मार्गदर्शन करेंगे।

ऐसा इसलिए होता है क्योंकि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की जरूरत पर (मेरे विचार से गुमराह करने के लिए), लगाए जाने वाले आरोप अपने फेंफड़ों की पूरी ताकत से शिक्षा के प्रयोजनों व लक्ष्यों की आलोचना करते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अक्सर यह घोषणा की जाती है कि शिक्षा के लक्ष्य पूरी तरह से फालतू के और शिक्षा का मार्गदर्शन करने के लिहाज से नाकारा हैं और शिक्षा के प्रयोजन अभिभावकों को अपनी आर्थिक व सामाजिक उम्मीदों के साये तले तय करने चाहिए। मैं इस छोटे से लेख में इन दावों को विस्तार से खारिज करके नहीं दिखा सकता। फिर भी आपके विचारों को छेड़ने के लिए मैं शिक्षा के दो दार्शनिकों के उद्धरण दूँगा। ये उद्धरण जो लोग शिक्षा के लक्ष्यों को फालतू मानते हैं उनके समक्ष विचार के लिए रख रहा हूँ, इन्हें आधिकारिक अन्तिम सत्य की तरह पेश करने का कोई इरादा नहीं है।

ड्यूई ने अपनी प्रसिद्ध किताब 'लोकतंत्र एवं शिक्षा' में कहा है, ''कुल मिलाकर नतीजा यह निकलता है कि किसी लक्ष्य के साथ कर्म करना ही समझदारी पूर्वक कर्म करना है। किसी कर्म के आखिरी अंजाम का अनुमान लगा पाने की बुनियाद पर ही यह तय होता है कि किसका अवलोकन करना है, किसका चुनाव करना है और किन चीजों को क्रम से जमाना है तथा हमारी कौन–सी क्षमताएँ उसमें काम आएँगी। यह सब करने का मतलब है हमारे पास दिमाग का होना... अगर वह धुँधली महत्त्वाकांक्षा की बजाए सच में काम करने वाला कोई दिमाग है– तो इसका मतलब है हमारे पास संसाधनों और बाधाओं पर ध्यान देने वाली एक योजना होनी चाहिए। दिमाग होने का मतलब है वर्तमान परिस्थितियों को भविष्य पर होने वाले प्रभाव के सन्दर्भ में देखना और भविष्य के परिणामों को वर्तमान परिस्थितियों के सम्बन्ध में देखने की क्षमता होना है। **और कोई लक्ष्य या उद्देश्य होने का मतलब भी यही गुण होना होता है। एक व्यक्ति मूर्ख, अज्ञानी, बेवकूफ या नासमझ उसी हद तक हो सकता है जिस हद तक उसे अपनी किसी गतिविधि के बारे में यह न पता हो कि वह गतिविधि किस बारे में है।** यानी वह अपने कर्मों के सम्भावित नतीजों से अनजान हो।''[5] (पृ. 120–21, यहाँ कुछ शब्दों पर अतिरिक्त बल हमारी ओर से दिया गया है।)

शिक्षा के लक्ष्यों पर चर्चा करते वक्त प्रोफेसर क्रिस्टोफर विंच कहते हैं, ''जब शिक्षा के प्रमुख लक्ष्यों पर साफ तौर पर सहमति नहीं बनती, तब एक खतरा यह होता है कि सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के कामकाज को तय करने में छुपे हुए या प्रच्छन्न लक्ष्य सबसे ज्यादा असरकारी बन सकते हैं। तब बहुत मुमकिन है कि किसी तंत्र के अन्दर व बाहर से कामकाज को संचालित करने वाले सबसे ज्यादा असरदार समूह इन लक्ष्यों को तय कर दें। **क्योंकि लक्ष्यों के बारे में सार्वजनिक बहस बहुत कम होगी या नहीं होगी, बहुत मुमकिन है कि कुछ के हितों पर पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाए और यहाँ तक कि उन्हें नुकसान भी पहुँचाया जा सकता है।** अगर किसी

समाज के पास अपनी शिक्षा प्रणाली के लिए स्पष्ट व सबकी सहमति हासिल किए हुए लक्ष्य न हों तो एक खतरा यह होगा कि न सिर्फ उनके पास ऐसा स्वस्थ तंत्र नहीं होगा जिसकी सभी इज्जत करते हों और जो अच्छी तरह से काम करता हो, बल्कि उस समाज के उन समूहों में व्यापक व नुकसानदायक असंतोष होगा जिनके हितों की अच्छी तरह से पूर्ति नहीं हो पा रही होगी।''[6] (पृ. 33, यहाँ कुछ शब्दों पर अतिरिक्त बल हमारी ओर से दिया गया है।)

### राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का ढाँचा

ऐसा लगता है कि पूरे देश में शिक्षा के एक साझा ढाँचे के बारे में सबसे पहली बार सुझाव कोठारी आयोग की रपट में दिए गए। उसके आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 सिफारिश करती है कि, 'देश के सभी हिस्सों में एक व्यापक व समान शैक्षिक ढाँचे का होना फायदेमन्द रहेगा। इसका अन्तिम उद्देश्य 10+2+3 के पैटर्न को अपनाना होना चाहिए, उच्च माध्यमिक स्तर के दो साल स्थानीय हालातों के मुताबिक विद्यालयों, महाविद्यालयों या दोनों में रखे जा सकते हैं।'[7] (पृ. 44)

इन सिफारिशों में एकदम साफ है कि नीति–दस्तावेज में शिक्षा के बारे में सुझाव दिए गए हैं। ऐसा उस समय शिक्षा के राज्यों का विषय होने की वजह से है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 ढाँचों के बारे में अनिश्चित नहीं है बल्कि उससे भी आगे यह चाहती है कि पूरे देश में प्रारम्भिक शिक्षा का एक समान बँटवारा जैसे : 5+3 हो और विद्यालयी शिक्षा में 10+2 की स्वीकृति हो। (पृ. 5)

सभी राष्ट्रीय पाठ्यचर्याओं (दस साला स्कूल की पाठ्यचर्या, 1975 सहित) में पूरे देश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के एक समान ढाँचे पर जोर दिया गया है। इससे भी आगे, अक्सर ये सभी दस्तावेज इसे खासतौर पर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य के तौर पर उद्धृत करते हैं।

### राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली और भाषा नीति

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू भाषाओं के विकास पर जोर देना है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1968 ने भारतीय भाषाओं के विकास की अहमियत को पहचाना और इस नतीजे पर पहुँची कि इसके बगैर, ''जनता की रचनात्मक ऊर्जा अभिव्यक्त नहीं हो पाएगी, शिक्षा के मानदण्ड बेहतर नहीं हो पाएँगे, जनता में ज्ञान का प्रसार नहीं हो पाएगा और शिक्षित वर्ग तथा जनसमुदाय के बीच की खाई बरकरार रहेगी, अगर और न बढ़े तब भी।'' (पृ. 39) उसमें सुझाए गए तीन–भाषा सूत्र को क्षेत्रीय भाषाओं के विकास, एक सम्पर्क भाषा के विकास के लक्ष्य को हासिल करने व अँग्रेजी भाषा के ज्ञान के बीच एक संतुलन बनाने के तरीके के तौर पर देखा जा सकता है।

शिक्षा में यही भाषा नीति स्वीकार की गई है और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 के बाद आने वाले हरेक नीतिगत दस्तावेज और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या में इसे दोहराया जाता है, भले ही सरकारें और विद्यालय अक्सर इसकी कोई परवाह नहीं करते या इसकी मूल भावना को कुचलकर इसका पालन करने का सिर्फ ढोंग करते हैं।

### अध्ययन की एक समान योजना

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली विद्यालय स्तर पर अध्ययन की एक समान योजना की परिकल्पना भी करती है। प्रारम्भिक व माध्यमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या एक रूपरेखा–1988 (संक्षेप में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या, 1988) प्री–प्राइमरी से माध्यमिक शिक्षा के लिए एक समान योजना निर्धारित करती है। प्राथमिक स्तर पर इसमें एक भाषा (मातृ भाषा/क्षेत्रीय भाषा), गणित, पर्यावरण अध्ययन, कार्यानुभव, कला शिक्षण और स्वास्थ्य व शारीरिक शिक्षण प्रस्तावित किया गया है। उच्च प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर बच्चों को तीन भाषाओं का अध्ययन करना है और पर्यावरण अध्ययन की जगह पर विज्ञान व सामाजिक अध्ययन लिया गया है; बाकी सभी विषय प्राथमिक स्तर वाले ही लिए गए हैं। हालाँकि यह एक समान योजना राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2000 तथा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में एकदम इस भाषा में तो व्यक्त नहीं की गई है, फिर भी पूरे देश में अभी यही प्रचलित है। अध्ययन की एक समान योजना का यह मतलब कतई नहीं है कि हरेक पाठ्यचर्यात्मक क्षेत्र का पाठ्यक्रम पूरे देश में एक–सा होगा। पाठ्यक्रम को स्थानीय सन्दर्भों के साथ जोड़ने के लिए काफी हद तक लचीलेपन की परिकल्पना की गई है। फिर भी, एक जैसे मानदण्डों को ध्यान में रखते हुए विषयों के ढाँचों में तर्कसंगत समानताएँ होनी चाहिए। अध्ययन की एक समान योजना पूरे देश में उपलब्धि के एक जैसे मानदण्ड विकसित किए जाने की सम्भावनाओं को मुमकिन बनाती है।

## एक समान केन्द्रीय (यानी कोर) पाठ्यचर्या

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 कहती है कि, ''शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली एक राष्ट्रीय पाठ्यचर्यात्मक ढाँचे पर आधारित होगी जिसमें मुख्य समान चीजों के साथ–साथ कुछ दूसरे घटक भी शामिल होंगे जो लचीले होंगे। इस एक समान केन्द्रीय पाठ्यचर्या में भारत की आजादी का इतिहास, संवैधानिक कर्तव्य और राष्ट्रीय पहचान का पोषण करने वाली अन्य जरूरी विषयवस्तु भी शामिल होंगी। ये तत्व सभी विषय क्षेत्रों में शामिल होंगे और भारत की सामान्य सांस्कृतिक विरासत, समतावाद, लैंगिक बराबरी, पर्यावरण का संरक्षण, सामाजिक अड़चनों को दूर करना, छोटे परिवार के मानक का पालन और वैज्ञानिक नजरिए की शिक्षा जैसे मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए डिजाइन किए जाएँगे। सभी शैक्षिक कार्यक्रमों में सेकुलर मूल्यों का कड़ाई के साथ पालन किया जाएगा।'' (पृ. 5)

यह इस बात को बताता है कि सभी भारतीय बच्चों को क्या जानना चाहिए और इसके साथ ही पाठ्यचर्या को स्थानीय सन्दर्भों के अनुकूल बनाने के भरपूर मौके भी देता है।

अब तक दिए गए तर्क को सारांश में इस तरह से रखा जा सकता है :

- आधुनिक भारत के निर्माता इस नतीजे पर पहुँचे थे कि इसे एक ऐसा लोकतांत्रिक देश होना चाहिए, जिसमें सभी को बराबर अधिकार हासिल हों। ये नतीजे आजादी के आन्दोलन की पीड़ादायी प्रक्रिया से उपजे थे।
- लेकिन भारत विविधताओं का देश था और है; सबके लिए बराबरी के विचार और देश के विचार को सभी के द्वारा एक ही तरह से न तो समझा गया और न ही उसे बराबर प्रतिबद्धता के साथ कबूल ही किया गया।
- इसके साथ ही, सभी के लिए सम्मानजनक जीवन सम्भव बनाने के लिए देश का आर्थिक विकास किए जाने की फौरी जरूरत थी (और अभी भी है)।
- इसलिए, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लोगों की क्षमताओं का विकास तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ राष्ट्रीय चेतना का विकास जरूरी माना गया। हमारे पास उन वांछित क्षमताओं, मूल्यों, ज्ञान तथा कौशलों के विकास का एकमात्र उपलब्ध जरिया शिक्षा है।
- चूँकि हमारे देश में लोगों की एक जगह से दूसरी जगह जाने की आजादी सुनिश्चित की गई है, मौकों में बराबरी सुनिश्चित की गई है, अतः इन्हें सुनिश्चित करने के लिए शिक्षा की एक समान प्रणाली होनी चाहिए। इसीलिए राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की जरूरत पड़ती है।
- राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में शिक्षा के लक्ष्य व साझा प्रयोजन, विद्यालयी शिक्षा का ढाँचा, अध्ययन के केन्द्रीय घटक तथा व्यवस्थित योजना का होना शामिल है। आज हम राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को इसी रूप में समझते हैं।
- इसके बगैर सभी के लिए बराबर शैक्षिक मौकों को सुनिश्चित करना सम्भव नहीं होगा।

## राष्ट्रीय पाठ्यचर्या

एक लोकतांत्रिक संविधान तथा राजनीति के नतीजे के तौर पर एक समान शिक्षा प्रणाली की जरूरत हमारे सामने उभरती है। शिक्षा की राष्ट्रीय नीति में इस जरूरत की अभिव्यक्त होती है और उससे इसकी न्यायसंगतता भी स्थापित होती है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या एक ऐसा औजार है जिसके जरिए राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के आदर्श को जमीन पर उतारा जा सकता है, इसलिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या शिक्षा की एक ऐसी योजना बन जाती है जिसकी वजहें भारत के संविधान तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति से निकलती है। लेकिन इसका काम सिद्धान्तों की एक ऐसी रूपरेखा गढ़ना है जो कक्षाओं में होने वाले शिक्षण कार्य का मार्गदर्शन उन बुनियादी सिद्धान्तों के मुताबिक कर सके।

इसलिए पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक, शिक्षण विधियाँ और आकलन को विकसित करने के दिशा–निर्देशों आदि सभी की जगह राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के दस्तावेज में होती है क्योंकि यह राष्ट्रीय शैक्षिक आदर्शों तथा उन आदर्शों को कक्षाओं में जमीन पर उतारने के बीच की कड़ी होता है। दूसरे शब्दों में यह राष्ट्रीय शैक्षिक आदर्शों की तरफ जाने के रास्ते का नक्शा होता है। सिद्धान्तों की ऐसी रूपरेखा बनाना मुश्किल काम है, जो एकदम साफ–साफ दिशा भी दिखा सके और इसके साथ ही उसमें लचीलेपन के लिए भी काफी गुंजाइश हो, लेकिन राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को सही दिशा में रखने के लिए यह जरूरी है। इस प्रकार की रूपरेखा में देश के सामाजिक–राजनैतिक दर्शन की गहरी समझ,

आदर्श समाज की और उसके अनुरूप मनुष्य की स्पष्ट कल्पना के साथ–साथ शैक्षणिक सिद्धान्त एवं देश के वास्तविक परिप्रेक्ष्य तथा आवश्यकताओं की गहरी समझ का शामिल होना जरूरी है।

इसलिए किसी भी विद्यालयी तंत्र के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का होना वैसा ही है जैसे नाविक के पास समुद्री रास्ते के नक्शे का होना है। नाविक बगैर नक्शे के रास्ते से भटक जाएगा और विद्यालयी तंत्र को बगैर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के कभी भी इस बात का पता नहीं चलेगा कि वह राष्ट्रीय आदर्शों को हासिल करने की राह में रोड़े अटका रहा है या उसे हासिल करने में मदद कर रहा है।

**References :**


1. Aurobindo Gosh, A system of national education, Tagore & CO., Madras, 1921.
2. Har Dayal, Our Educational Problem, Tagore & Co., Madras, 1922.
3. Rabindranath Tagore, The Centre of Indian Culture, a lecture delivered in Madras in 1919.
4. Lajpat Rai, The problem of national education in India, Gorge Allen & Unwin, London, 1920.
5. John Dewey, Democracy and Education, Macmillan Company, New York, 1916.
6. Christopher Winch, Quality of Education, Journal of Philosophy of Education, Vol. 30. No. 1. 1996.
7. National Policy on Education, Ministry of Human Resource Development, New Delhi, 1998.



**रोहित धनकर** अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु में प्रोफेसर तथा 'स्कूल ऑफ एजूकेशन' संकाय के निदेशक हैं। वे शिक्षा के क्षेत्र में 1978 से कार्यरत हैं। इस दौरान वे राज्य स्तरीय एवं राष्ट्रीय स्तर की कई ऐसी पहलों, आयोजनों का हिस्सा रहे हैं जिनमें शैक्षिक सुधार, पाठ्यचर्या विकास और शिक्षक शिक्षा और उसके पेशवर विकास पर काम हुआ है। उन्होंने शिक्षक के रूप में डेविड ऑसबर्ॉ से उनके स्कूल नीलबाग में प्रशिक्षण प्राप्त किया है। लगभग 15 वर्ष प्रारम्भिक शिक्षा का अध्यापन किया है। वे जयपुर में स्थित स्वयंसेवी संस्था दिगन्तर के संस्थापक सचिव हैं तथा शैक्षिक सलाहकार के रूप में संस्था से सम्बद्ध हैं। उनसे rohit.dhankar@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** रवि कांत (**अनुवाद सम्पादन** : मनोज कुमार)

# शिक्षा के लिए प्रतिबद्धता : क्या हम असफल हो रहे हैं?

हृदयकांत दीवान

### भारतीय संविधान के वायदे

एक लोकतांत्रिक राज्य के विचार का आधार और उसके लक्ष्य आजादी, अवसरों की समानता, मध्यस्थता और न्याय में होते हैं और इसके लिए सब नागरिकों की हिस्सेदारी की जरूरत होती है। इस विचार को कई तरह से अभिव्यक्त किया गया है और इस मामले में सबसे उल्लेखनीय भारतीय संविधान की उद्देशिका है। यह भारत के लोगों द्वारा की गई घोषणा है कि वे स्वयं को एक ऐसे समूह का रूप दे रहे हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति को कुछ समान अधिकार और समानता पर आधारित अवसर प्राप्त होंगे।

संविधान की उद्देशिका में मुख्य शब्द न्याय, स्वतन्त्रता, अवसर और प्रतिष्ठा की समता तथा बन्धुता हैं। स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक शब्द एक नागरिक से अन्य नागरिकों के लिए हमदर्दी और चिन्ता की माँग करता है, जिसकी बुनियाद में इन शब्दों के अर्थ की समझ भी हो। शासन–व्यवस्था से भी आशा की जाती है कि वह हमें इन लक्ष्यों के बारे में जागरूक करने तथा उन्हें हासिल करने में सक्षम बनाने में निहित चुनौती के लिए तैयार रहे। हमने स्वयं को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय तथा प्रतिष्ठा एवं अवसरों की समानता के लिए प्रतिबद्ध किया है। एक जातिग्रस्त, लैंगिक मुद्दों पर अत्यधिक पूर्वाग्रहग्रस्त, सांस्कृतिक विविधता और आर्थिक तौर पर अत्यधिक स्तरीकृत, राजनैतिक तौर पर विभाजित असमान समाज में भी ऐसी प्रतिबद्धता का होना एक दूरगामी दृष्टि को दर्शाता है। उद्देशिका में स्थापित विचारों के परिप्रेक्ष्य, उनके अर्थ और अन्तर्निहित भाव को समझने तथा नागरिकों में इसे सम्भव बना पाने की क्षमताएँ होने के लिए शिक्षा एक केन्द्रीय साधन है।

लोगों के प्रति आदर, समता तथा न्याय की यह समझ बनाने का एक रास्ता कानून की ओर से सजा दिए जाने की सम्भावनाओं का है – एक और रास्ता है सभी नागरिकों में इन शब्दों की अर्थ–सम्बन्धी समझ बनाने और आकांक्षाओं तक पहुँचने के लिए उनमें विश्वास जगाने का रास्ता। इसका अर्थ है कि पहले इन सम्भावनाओं का ज्ञान होना आवश्यक है और उसके बाद इस विश्वास का होना कि कोई भी व्यक्ति वही बनने की आकांक्षा रख सकता है जो वह बनना चाहता या चाहती है। यह बात अमर्त्य सेन तथा अन्य द्वारा प्रचारित अधिकारों या सामर्थ्य को केन्द्र में रखने वाले दृष्टिकोण की संगति में है। उनकी अभिधारणा है कि सच्ची स्वतंत्रता चुनाव कर पाने में होती है। इससे बढ़ने–फलने की स्वतंत्रता मिलती है, जिसके चलते सामर्थ्य और योग्यताओं की जरूरत पैदा होती है। नतीजतन, समानता तथा मध्यस्थता का बोध पैदा उत्पन्न होता है। इस सबसे हमें समझने में मदद मिलती है कि हम कहाँ तक पहुँच पाए हैं।

संविधान की प्रतिबद्धताएँ मौलिक अधिकारों और नीतिगत निदेशक सिद्धान्तों के रूप में वर्गीकृत हैं। एक ओर तो इन दोनों आयामों में प्रगति अवरुद्ध हुई है। दूसरी ओर शिक्षा को मौलिक अधिकार नहीं बनाया गया था। और इस बात को पहचानना तो महत्त्वपूर्ण है ही कि हम अभी अपने मूल अधिकारों को भी हासिल नहीं कर पाए हैं। जाति, मत और लैंगिक आधार पर अभी भी समानता नहीं है। शोषण से आजादी की या धर्म के चुनाव में बराबर की आजादी की भी अभी तक कोई गारण्टी नहीं है। मौजूदा परिदृश्य में विमर्श भी समय–समय पर फूट और संघर्ष से लदा हुआ रहता है। नागरिकों के कुछ वर्ग सामान्य स्थितियों में भी भेदभाव का सामना करते हैं।

अल्प सुविधा प्राप्त लोग (जिनमें अछूत समझी जाने वाली जातियों, अल्पसंख्यक समुदायों विशेषकर मुसलमानों और जनजातियों जैसे वर्गों के लोग शामिल हैं) अलग–अलग तरह से हाशिए पर धकेले जाते हैं और उन्हें भेदभाव का सामना करना पड़ता है। जीवन, व्यवसाय और आहार सम्बन्धी बुनियादी स्वतंत्रता की बातों पर भी सीमाएँ बाँधी जाती हैं। कुछ की तो छाया भी किसी पर पड़ जाए तो उन्हें सजा दी जाती है; कई हैं जिनके लिए दोस्त बना पाना और साथ में खाना तो दूर, उनका अन्य लोगों के साथ बैठना भी गवारा नहीं किया जाता; और कुछ को तो यह भी कह दिया

गया है कि वे किसी दूसरे देश में जा बसें। परिवारों पर हमले हुए हैं, उन्हें उन के घरों से खदेड़ा गया है – सिर्फ इसलिए कि उनके समुदाय के किसी व्यक्ति ने तथाकथित उच्च, प्रतिष्ठित जाति के लोगों से दोस्ती या सम्बन्ध बनाने की गलती की है।

लैंगिकता का मुद्दा एक अन्य घोर असमानता का मुद्दा है। महिलाएँ मर्दों से कम मजूरी पाती हैं। सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त नहीं हैं, न ही बच्चे उनका नाम ग्रहण कर सकते हैं। कपड़े पहनने के नियम और शैली भी निर्धारित है जिसका अर्थ यह है कि इनके विरुद्ध जाकर अपनी मन–मर्जी से वस्त्र धारण किए जाते हैं तो यौन–उत्पीड़न और आक्रमण का सामना करना पड़ता है। यह स्पष्ट है कि कानून को लागू करने वाली कोई भी एजेंसी इन (या अन्य) अधिकारों को सुनिश्चित नहीं कर पाती है। हम आगे तो बढ़े हैं लेकिन इन अधिकारों को सब नागरिकों के लिए सम्भव बनाने से अभी बहुत दूर हैं। संवैधानिक उपायों के अधिकार की माँग है कि नागरिक पहले उन अधिकारों को समझें – तब ही वे कोई याचिका बना पाएँगे या अदालत के सामने कोई मुकदमा ला पाएँगे। निदेशक सिद्धान्तों को लागू करवाने के लिए जोर लगाना तो इससे भी अलग बात है।

शिक्षा को मूल अधिकारों में रखने के लिए दी गई दलीलें संविधान सभा के लिए स्वीकार्य नहीं हो पाई थीं। इसलिए शिक्षा को निदेशक सिद्धान्तों में रखा गया। यह दुर्भाग्य की बात है कि लोकतंत्र की आधारशिला का काम करने वाली न्यायसंगत शिक्षा की बात स्वीकार नहीं हो पाई। इस बात के बावजूद है कि इसके लिए प्रतिबद्ध ता बहुत बार दर्शाई गई है, शिक्षा को सार्वभौमिक तौर पर उपलब्ध करवाने की कोशिशें कभी भी सबसे बड़ी प्राथमिकता नहीं बन पाईं। अधिकतर तो यह आर्थिक विकास, आन्तरिक सुरक्षा और बाह्य सुरक्षा के आगे हारती रही है।

सबके लिए शिक्षा के अवसर होना असल में सबके लिए बराबर के अवसर निर्मित करने की ओर पहला कदम है। प्रवेश सम्बन्धी आँकड़ों से मालूम होता है कि अधिकतर बच्चे शायद स्कूल में प्रवेश तो लेते हैं लेकिन बड़ी संख्या में बच्चे बहुत जल्दी स्कूल छोड़ भी देते हैं और माध्यमिक स्कूल तक तो अधिकतर पढ़ाई छोड़ चुके होते हैं। यह भी हो सकता है कि शायद शिक्षा छोड़ने वालों में से कुछ ऐसे भी हों जिन्होंने असल में प्रवेश ही न लिया हो। इसलिए शिक्षा के सार्वभौमीकरण तथा समता के साथ अवसर की ओर उठाया जाने वाला पहला कदम भी नाकामयाब लगता है। हमें इसके कारणों के बारे में सोचना होगा और 'समान अवसर' के प्रभावों तथा निहितार्थ के बारे में भी।

एक स्तरीकृत, कई परतों वाले समाज में व्यवस्थित शिक्षा को न्यायसंगत होना है तो उसे औपचारिक ढाँचे के बाहर उपलब्ध विभेदी अवसरों और मदद के लिए क्षतिपूर्ति करना होगी और ऐसा करते हुए अधिक निवेश उन पर करना होगा जिन्हें घर पर मदद नहीं मिल पाती। यह भी सुनिश्चित किया जाना होगा कि जो भी स्कूल के द्वार तक पहुँचता है, वह स्वयं को आराम की अवस्था में महसूस करे और उसे लगे कि वहाँ उसका स्वागत है। व्यवस्थित शिक्षा को ऐसे लोगों के अनुभवों और आवश्यकताओं के अनुरूप होना होगा। इस परिदृश्य में जो सवाल करने पर हम मजबूर होते हैं, वह है –क्या हम यह कर रहे हैं? अगर हम न्यायसंगत शिक्षा को लोकतंत्र की ओर बढ़ने की आधारशिला मानते हैं तो हमें शिक्षा–व्यवस्था की अब तक की कार्यप्रणाली को देखना होगा और उसके नीति–कथनों को भी।

शिक्षा के भेदभावपूर्ण होने का एक कारक है प्रत्येक बच्चे की शिक्षा पर होने वाला खर्च।[1] इस सन्दर्भ में एक छोर पर संसाधन–प्राप्त विशेषाधिकार–सम्पन्न बच्चे हैं तो दूसरे छोर पर वे बच्चे हैं जिनका स्कूल आना भी उनके माता–पिता के लिए निवेश की एक बड़ी बात होती है। सरकार की व्यवस्था बहुत वर्गीकृत होने की वजह से यह अन्तर बहुत अधिक रहता है।

सार्वजनिक परीक्षाओं में विद्यार्थियों के उच्च अंकों और मेरिट लिस्ट में उनकी संख्या के आधार पर स्कूलों को आँका जाता है जबकि भाईचारे के विकास की भावना और आत्म–मूल्यांकन को कम आँका जाता है। इस बात को दर्ज करने की कोई भी प्रणाली नहीं है कि स्कूल इन मूल्यों को जोड़ पा रहे हैं या नहीं। इसके अलावा प्रतिस्पर्द्धा की होड़ लगी है। छँटाई की जाती है, जो समावेश और बच्चों को स्कूल में बनाए रखने के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। उच्च अंक–प्राप्ति और तुलनात्मक प्रदर्शन पर बल दिए जाने से तथा परिप्रेक्ष्य और अवसरों में अन्तर को अनदेखा करने से उन्हें व्यवस्था से बाहर कर दिया जाना सुनिश्चित हो जाता है जिन्हें असल में सबसे अधिक मदद की जरूरत होती है। सुविधा वंचितों में से भी जो इस दीवार को किसी न किसी तरह भेद पाते हैं, उन्हें तो और भी अधिक विरोध तथा

पूर्वाग्रहों का सामना करना पड़ता है – पिछले समय में आई.आई.टी. तथा आई.ए.एस. के प्रवेशार्थियों से सम्बद्ध घटनाओं से यह प्रदर्शित होता है।

एक और हारती हुई जंग वंचित बच्चों के लिए अधिक संसाधनों के लिए संघर्ष से सम्बन्धित रही है। शिक्षा के बजट में की गई 11000 करोड़ रुपयों की कटौती को इसी सन्दर्भ में देखे जाने की जरूरत है।

प्रति–बच्चा व्यय का औसत/माध्यमिक आँकड़ा चाहे सालाना 1500 रुपए से बढ़कर 12,200 रुपए हो चुका है,[2,3] असल में तो यह सम्भ्रांत निजी स्कूलों में खर्च किए जाने वाले 12–13 लाख रुपए सालाना के खर्च के मुकाबले बहुत ही तुच्छ, आटे में नमक जैसी रकम है।[4]

इस बारे में बहुत कुछ लिखा जाता रहा है कि किस प्रकार वंचित बच्चों को बेइज्जती की हद तक स्कूल से बाहर रखा जाता है और स्कूल का उनके साथ व्यवहार कैसा रहता है। यह बहुत अच्छे से जाना–पहचाना गया है कि स्कूल छोड़ने वाले अधिकतर बच्चे वे हैं जो स्कूल के गैर–दोस्ताना माहौल की वजह से उसमें से धकेल दिए जाते हैं। स्कूली व्यवस्था में ही नहीं, समाज में भी विश्वास यह है कि इन तबकों के बच्चे सीख ही नहीं सकते और इस बारे में अधिक कुछ किया ही नहीं जा सकता। इस संवैधानिक प्रतिबद्धता को स्वीकार करने में हिचकिचाहट रहती है कि सबको समान अवसर दिए जाने हैं और यह सुनिश्चित किया जाना है कि सब बच्चे किसी भी अवस्था तक पहुँचने की अभिलाषा रख सकते हैं। एक मूक समझौते के तहत शिक्षा, अर्थव्यवस्था, यहाँ तक कि शासन और कार्यपालिका में भी, प्रतिष्ठित माने जाने वाले स्थान तो प्रभुत्वकारी मध्यम और सम्भ्रांत वर्गों की पहुँच में ही होंगे। प्रचलित रवैया तो यही है कि मनोवृत्ति और बौद्धिकता के स्तर पर अल्पसुविधाप्राप्त, पिछड़े वर्गों के लोग हीन होते हैं। हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लुकिंग अवे' में हर्ष मन्दर[5] इनमें से कुछ मान्यताओं का एक भावपूर्ण, धाराप्रवाह वर्णन देते हैं। अध्ययनों से प्रदर्शित होता है कि पिछड़े वर्गों के बच्चों के भविष्य के लिए जिम्मेवार लोगों में उनके सीखने की क्षमताओं के लिए कितना तिरस्कार और तुच्छ भाव है। अन्यायसंगत शिक्षा के जुर्म की जिम्मेदारी एक अर्थ में पीड़ित पर ही डाल दी जाती है।

स्कूलों में प्रतीक–चिह्न और प्रथाएँ उच्च–जाति हिन्दू परम्पराओं से उपजे हुए होते हैं और इस सन्दर्भ में विद्यार्थियों की विविधता को न तो पहचाना जाता है और न ही उसके लिए कोई जगह छोड़ी जाती है। पाठ्यपुस्तकों से अंश इस ओर इशारा करते हैं कि पाठक को भी उच्च–जाति का आर्थिक रूप से आरामदायक स्थिति में हिन्दू विद्यार्थी मानकर चला जाता है। ईद को हमारे मुस्लिम भाइयों के त्यौहार के रूप में पेश किया जाता है जब कि दीवाली पूरे देश का त्यौहार है। "वह गरीब लेकिन ईमानदार था", "रीता के पिता गरीब थे, उनके पास बस स्कूटर था और कार नहीं थी" या "जनजातियों के लोग जंगलों में रहते हैं" जैसे कथनों की भरमार मिलती है। ये प्रतीक, परिपाटियाँ और वृत्तांत अधिकतर बच्चों को अलग–थलग कर देते हैं। शिक्षक संविधान में स्थापित सिद्धान्तों में प्रशिक्षित न होने के कारण इन संकेतों का प्रतिकार नहीं कर पाते।

यह एक दिलचस्प बात है कि सम्भ्रांत घरों में या बोर्डरूम संवादों में गरीब और अल्पसंख्यक तबकों की धृष्टता के बारे में तो हमें बातें सुनाई पड़ती हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि इन तबकों की आवाजें बहुत ही कम सुनने को मिलती हैं। यह कोई हैरत की बात नहीं है कि जो स्कूल हर तरह के विद्यार्थियों को स्थान देते हुए समावेशी माहौल बनाने की कोशिश करते रहे हैं, उन्हें विशेष सुविधासम्पन्न और मध्य–वर्ग के बच्चों द्वारा तेजी से पलायन का सामना करना पड़ा है, खासतौर से तब जब कुछ पिछड़े वर्ग के बच्चों को शामिल किया गया। स्कूल छोड़ने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि इन वर्गों के बच्चे अलग ही हैं और इनके मूल्य भी अलग हैं, इनमें कोई आकांक्षाएँ या उद्देश्य नहीं हैं और इनके विश्वास और मान्यताएँ भी अलग हैं – इसलिए हमारे बच्चे इनके साथ रहेंगे तो 'बिगड़' जाएँगे। इस दबाव का सामना निजी स्कूलों को ही नहीं, सरकारी स्कूलों को भी करना पड़ता है। सामान्य सरकारी स्कूल किसी बच्चे को दाखिले से अलग नहीं रख सकते, इसलिए अब निम्न–मध्य वर्ग के लोग भी इनसे बचने लगे हैं। इसलिए हैरत नहीं कि स्कूल वंचित तबकों के बच्चों को भागीदारी से अलग रखने के दबाव महसूस करते हैं। निजी स्कूल इससे भी अधिक स्तरीकृत हैं क्योंकि उनका फीस का ढाँचा उनके ग्राहकों पर निर्भर रहता है। शैक्षिक अवसरों के इस अत्यधिक स्तरीकरण को चुनौती देने का अकेला रास्ता साझा स्कूली व्यवस्था के रूप में दिखाई देता है। लेकिन यह कदम शायद उस समय उठाना अधिक आसान होता जब भारत एक गणतंत्र बना था। आज सामाजिक और राजनैतिक ताकत में एक खास तरह का असन्तुलन है, उसका झुकाव एक विशेष

दिशा में अधिक है। इसलिए अब उच्च वर्गों को साझा व्यवस्था के बारे में विश्वास दिलाने और उसके लिए तैयार करने की चुनौती में सफलता नामुमकिन लगती है। हम ग्रामीण स्कूलों पर भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलनात्मक जाँच के दबाव को देख रहे हैं। नतीजा यह कि सरकारी स्कूल वंचित और त्याग दिए गए समुदायों के दड़बे बन गए हैं। वे पहले से कम संसाधन और ध्यान आकर्षित कर पा रहे हैं और कम अभिलाषी शिक्षा की ओर बढ़ रहे हैं जिसके चलते ये बच्चे निरन्तर असमानता के लिए अभिशप्त हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण मुद्दा बच्चों के सीखने के प्रति व्यवस्था के रवैये का है। इसी से जुड़ा यह मुद्दा भी है कि स्तरीकृत और तथाकथित अपर्याप्त सीखने को व्यवस्था द्वारा किस तरह विश्लेषित किया जाता है। मान्यताओं से सम्बद्ध जो बड़ी व्यवस्था चलन में है, वह उन लोगों की है जिनकी भूमिका स्कूलों को उनके काम में सुविधा और सहायता प्रदान करना है। और इनके विचार में बच्चों और स्कूल के सम्पर्क में रहने वाले लोग (जिनमें शिक्षक भी शामिल हैं) कार्यकुशल नहीं हैं और न ही काम करना चाहते हैं। नतीजा यह, कि निरन्तर नए निर्देश दिए जाते हैं और शिक्षकों पर थोपे जाते हैं, उन्हें कुछ भी करने को आजाद नहीं छोड़ा जाता, जिसके चलते स्वतंत्र तौर पर कार्य करने की पहलकदमी भी वे नहीं ले पाते।[6] विविधता को अनदेखा कर दिया जाता है और शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को एकरूप निर्देशों का पालन करना पड़ता है। स्कूल या शिक्षक के पास अपना पथ चुनने की कोई गुंजाइश नहीं रहती। दूसरी ओर सीख न पाने की जिम्मेदारी शिक्षा–व्यवस्था के प्रशासकों और शासकों द्वारा शिक्षक, माता–पिता और विद्यार्थी पर डाल दी जाती है। यह सुनिश्चित करने का दबाव रहता है कि हर कोई एक ही समयकाल में सीखे। लेकिन कोई अतिरिक्त मदद या साधन उपलब्ध नहीं करवाए जाते। नतीजा यह होता है कि शिक्षक और विद्यार्थी स्थिति से निपट नहीं पाते। कुछ भी हो, आम–सामान्य शिक्षक के खुद के रवैये और विश्वास भी बच्चों में सीख पाने की काबिलियत के प्रति बहुत सहानुभूतिपूर्ण नहीं होते। साथ ही, यह भी सम्भव है कि कुछ शिक्षक प्रत्येक बच्चे के लिए समानता के संवैधानिक अधिकार के विचार के तईं प्रतिबद्ध न हों।

अब हम आते हैं विभिन्न समुदायों की निगाह में शिक्षा के उद्देश्यों के पक्ष पर। संविधान की उद्देशिका समान अवसर को एक उद्देश्य के तौर पर रखती है – साथ ही लोकतंत्र और नतीजतन न्याय, आजादी और भाईचारे की समझ विकसित करना भी उद्देश्य है ताकि नागरिक न्याय की माँग कर सकें और दूसरों द्वारा ऐसा कर पाने के अधिकारों का सम्मान भी करें। उद्देशिका से उभरकर आने वाली शिक्षा की प्रकृति एक सार्वभौमिक, समावेशी और अनुकूलनशील प्रोग्राम के रूप में है। इस बात को समझना जरूरी है, अन्यथा प्राथमिकताएँ विकृत हो सकती हैं।

शिक्षा के उद्देश्यों में से कुछ को इस तरह से देखा जा सकता है :

1. व्यवस्था को बनाए और बचाए रखने के लिए
2. व्यक्तिगत आर्थिक सम्पन्नता तथा संसाधनों का उचित उपयोग
3. बेहतर नागरिकता को बढ़ावा देने वाला एक मजबूत देश और जीवंत अर्थव्यवस्था बनाना
4. एक न्यायसंगत तथा मानवीय समाज बनाना

इनमें से प्रत्येक पर गम्भीर विचार तथा अलग फोकस और विश्लेषण की जरूरत है।

1990 के दशक के बाद के सालों और 21वीं सदी के पहले पाँच सालों में सरकारी स्कूली व्यवस्था में नए सिरे से फेर–बदल की काफी बात चली थी ताकि शिक्षा का सार्वभौमीकरण हो पाए और सब बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिल पाए। इस प्रयास को इस विश्वास के बल पर बढ़ावा मिला था कि स्कूली शिक्षा का ध्यान बेहतर काम करने वाला कार्यसमूह प्रदान करने पर होना चाहिए ताकि व्यक्ति और देश दोनों को लाभ हो। यह बात एक राज्य के बहुत ही सच्चे–खरे और चिन्तित प्रोजेक्ट निर्देशक द्वारा कही गई है,[7] "मेरे विचार से यदि हमारी जनसंख्या शिक्षित होगी तो एक मजबूत देश बनेगा और देश को समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ेगा। सामाजिक समस्याएँ भी घट जाएँगी। देश ताकतवर बनेगा क्योंकि शिक्षितों को प्रशिक्षित किया जा सकेगा और वे अधिक उत्पादकता के साथ काम करेंगे। वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाएँगे तो राज्य के पास आने वाली बचत भी अधिक होगी और हम एक तेजी से आगे बढ़ती अर्थव्यवस्था की ओर जा पाएँगे। हमारे पास जनसंख्या का एक अच्छा ढाँचा है, बहुत से लोग 18 से 45 साल के बीच के हैं। यह सबसे उत्पादक आयु–वर्ग है और ये लोग मेहनत करने योग्य हैं। यदि ये सब

शिक्षित हो जाएँ तो इन्हें अधिक उपयोगी नौकरियों के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है।" इस कथन में शिक्षा के बारे में बहुत कुछ सकारात्मक है लेकिन एक बात इसमें नहीं कही गई है – कि लोग स्वयं भी उस प्रक्रिया का हिस्सा हों जिसके तहत वे अपनी स्थितियों को बदलने के विकल्पों के बारे में सोच सकें।

निष्कर्ष में ऐसा लगता है कि हम एक समतामूलक समाज बनाने के लिए संविधान की उद्देशिका में सुझाए गए निदेशक सिद्धान्तों से भटक गए हैं क्योंकि हमने बल केवल आर्थिक प्रगति और आज्ञाकारिता पर दिया है। बहुसंख्या को दूसरों की सेवा करने वाली भूमिकाओं के लिए तैयार किया गया है न कि समाज की बाधाओं को गिराने के लिए। बातचीत होती है तो बच्चों को परिवार के काम में उलझाने तथा देश के लिए और अधिक उत्पादन के बारे में होती है। बचपन का विचार और सपने लेना तथा आकांक्षाएँ रखना एक विशेषाधिकार की तरह है जो केवल उनके पास हो सकता है जिनमें 'योग्यता' है।

शैक्षिक प्रक्रियाओं और बच्चों की विविधता के बीच के सम्बन्ध को समतावादी तरीके से शामिल किए जाने के सम्बन्ध में अन्य महत्त्वपूर्ण सरोकार भी हैं। इनका सम्बन्ध ज्ञान की प्रकृति और कक्षा तथा स्कूल में उसके आदान–प्रदान के तरीके से है – और शैक्षिक अनुभव प्रदान करने वाले ढाँचों की प्रकृति से भी है। यहाँ पर उनके कुछ ही महत्त्वपूर्ण पक्षों के बारे में बात की गई है। इन महत्त्वपूर्ण मुद्दों से सम्बन्धित कई कदम हैं लेकिन यह स्पष्ट है कि वे सब विविधता और समता के बारे में पक्के विश्वास और मान्यताओं सम्बन्धी बृहद चिन्ताओं और इन्हें लागू करने के इरादे के उत्पाद हैं।

**References:**


1. How much does India spend on Elementary Education? Accountability Initiative Posted on: 04-12-14 Ambrish Dongre, Avani Kapur
2. Nayantara Nath, Per child funding formula, June 2014 CCS internship files. Wordpress.com/ 2014/06/315
3. Anurag Behar, Cost of rivatized education, Mint, 17 June 2015
4. http://www.ecolemondiale.org/fee-structure/ The fees structure of a typical good quality IB school
5. Harsh Mandar : Looking Away , (2015) Speaking Tiger Books
6. Report of the International Conference on Teacher Development and Management held in Udaipur, 23-25 February, 2009
7. Report of DPEP in Karnataka (Unpublished), Understanding Pedagogical Interventions, 2002,Principal Investigator, H.K. Dewan, Vidya Bhawan Society



**हृदयकांत दीवान** वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु में प्रोफेसर हैं। वे 'एकलव्य' के संस्थापक समूह के सदस्य हैं और उदयपुर की विद्या भवन सोसायटी के शैक्षिक–सलाहकार रहे हैं। वे पिछले 40 सालों से शिक्षा के क्षेत्र में कई तरह से कार्यरत रहे हैं तथा विशेष तौर से शिक्षा में नवाचार और राजकीय शैक्षिक ढाँचों में परिवर्तन के प्रयासों से सम्बद्ध रहे हैं। उनसे hardy.dewan@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रमणीक मोहन

# सामाजिक स्तरीकरण पर शिक्षा के निजीकरण के प्रभाव

अमन मदान

इस लेख में मेरा मुख्य तर्क यह है कि भारत या अत्यधिक असमानता वाले किसी भी देश के लिए विद्यालयी या महाविद्यालयी शिक्षा का निजीकरण एक सन्तोषजनक समाधान नहीं हो सकता।

निजीकरण से यहाँ क्या आशय है, यह अगर स्पष्ट हो जाए तो शायद हमें बात को समझने में कुछ मदद मिलेगी। हालाँकि इस शब्द का और भी व्यापक अर्थ होने की दलील दी जा सकती है, इस लेख में निजीकरण की बात से मेरा मुख्यतौर पर तात्पर्य उन विद्यालयों या महाविद्यालयों से है जो माता–पिता से कोई शुल्क लेते हैं और उसका प्रयोग संसाधन के रूप में शिक्षकों के वेतन, स्कूल के संचालन आदि के लिए करते हैं। यहाँ उन विद्यालयों का जिक्र नहीं है जिनके खर्चे सरकार से मिले अनुदान या समुदाय से प्राप्त चन्दे या फिर परोपकारियों से प्राप्त सहायता से निकलते हैं। निजीकरण में मैं उन विद्यालयों और महाविद्यालयों की बढ़ती संख्या को भी शामिल करता हूँ जिनमें विद्यार्थी ऋण लेकर दाखिला हासिल करते हैं, क्योंकि यह खर्चा भी अन्ततः तो अकेले–अकेले विद्यार्थी और उनके माता–पिता की जेब से आता है। इसलिए सरकार द्वारा चलाया जा रहा वह विद्यालय भी, जिसके अधिकतर खर्चे विद्यालय को मिले शुल्क से निकलते हैं, निजीकरण का ही एक रूप होगा। जब आप शिक्षा का अधिकतर भौतिक खर्च एक विद्यार्थी से अदा करने को कहते हैं तो आप मूलतौर पर समाज में निज के विचार पर निर्भर हो रहे होते हैं, क्योंकि एक निजी व्यक्ति अपने निजी हितों के बदले में कुछ दाम दे रहा होता है। यह उस स्थिति से हटकर है जहाँ समाज शिक्षा के अधिकतर भौतिक खर्च को वहन करता है जबकि बदले में व्यक्ति और समुदाय, दोनों को मिले–जुले निजी और सार्वजनिक लाभ प्राप्त हो रहे होते हैं।

मुद्दे तो और भी हैं – जैसे, नवउदारवाद की संस्कृति और सोच का बढ़ना, यह सवाल कि क्या शिक्षा के क्षेत्र में काम करने के लिए पसन्द या चयन तथा बाजार की प्रक्रियाएँ सबसे बेहतर तरीका हैं और क्या सामाजिक हितों का सबसे बेहतर प्रतिनिधित्व राज्य द्वारा किया जाता है आदि। लेकिन इस लेख में मैं इन मुद्दों को नहीं उठाना चाहूँगा। यहाँ मैं स्वयं को गैर–बराबरी पर आधारित एक समाज में निजी निवेश और निजी लाभ की समस्या तक सीमित रखूँगा।

मेरी बुनियादी दलील यह है कि एक समाज में अगर कई आर्थिक वर्ग हैं तो मुख्य तौर से माता–पिता के धन के दम पर चलने वाली शिक्षा सामाजिक असमानता को और अधिक बढ़ाने की ओर प्रवृत्त होगी।

यह बात खासतौर से उन समाजों पर लागू होती है जिनमें अधिक कमाई वाले काम तुलनात्मक दृष्टि से कम हैं और इतने नहीं हैं कि सब विद्यार्थी उनमें खप पाएँ। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी।

### भारत में वर्ग–आधारित असमानता

भारत में वर्ग–आधारित असमानता को समझने के कई तरीके हैं। इनमें से सबसे बेहतर तरीका वर्गों को एक–दूसरे के साथ उनके संरचनात्मक सम्बन्धों के सन्दर्भ में स्थित करने का है। यह सही है कि वर्ग स्वयं में स्वतंत्र नहीं होते और जाति, क्षेत्र, लैंगिकता, धर्म, नस्ल आदि के साथ उनका गहरा अन्तर्सम्बन्ध होता है। हमारे उदाहरण के लिए वर्ग असमानता को दर्शाने के लिए एक सरल सा तरीका पर्याप्त होगा – बस यह पूछा जाए कि भारत में कितने लोग अमीर हैं और कितने गरीब। यह आमतौर पर परिवारों की आय की तालिका के माध्यम से दर्शाया जाता है लेकिन क्योंकि बहुत से लोग अपनी असली आय बताने से बचते हैं, इसलिए प्रचलन उपभोग के बारे में जानकारी एकत्र करके जाँचने–विश्लेषित करने का है। सर्वेक्षणों में पूछा जाता है कि पिछले महीने में कितना आहार खरीदा या प्रयोग किया गया, स्कूल के लिए कितनी फीस दी गई, कितनी पत्रिकाएँ खरीदी गईं, सिनेमा पर कितना खर्च किया गया आदि–आदि। यह विभिन्न परिवारों और व्यक्तियों की सम्पत्ति की तुलना करने का एक लाभदायक तरीका है। 2011–12 में

68वें राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण में भारत में 1,01,723 घरों का सर्वेक्षण किया गया जिसमें अन्य बातों के अलावा उपभोग पर किए गए खर्च के बारे में पूछा गया। घर के सदस्यों की संख्या क्योंकि अलग–अलग रहती है तथा एक ओर 20 हजार रुपए प्रति–माह की कमाई वाले छह सदस्यों वाले घर तथा दूसरी ओर इतनी ही कमाई वाले एक बेफिक्र कुँआरे की स्थितियाँ बिल्कुल अलग–अलग होंगी, इसलिए उपभोग पर किए गए खर्च को परिवार के सदस्यों की संख्या से भाग कर दिया गया और इस प्रकार प्राप्त आँकड़े को प्रति–माह प्रति–व्यक्ति उपभोग खर्च (मन्थली पर कैपिटा कन्ज़म्पशन एक्स्पेन्डिचर – एम.पी.सी.ई.) कह दिया गया। प्रति–माह प्रति–व्यक्ति उपभोग–खर्च के अलग–अलग योग वाली भारत की जनसंख्या का प्रतिशत तालिका में दिया हुआ है।

| रुपयों में खर्च (एम.पी.सी.ई) | परिवारों का प्रतिशत | समुच्च्य प्रतिशत |
|---|---|---|
| <1000 | 33.3 | 33.3 |
| 1000 < 2000 | 42.1 | 75.5 |
| 2000 < 3000 | 13.1 | 88.5 |
| 3000 < 4000 | 5.4 | 93.9 |
| 4000 < 5000 | 2.3 | 96.3 |
| 5000 < 6000 | 1.3 | 97.6 |
| 6000 < 7000 | 0.7 | 98.3 |
| 7000 < 8000 | 0.4 | 98.7 |
| 8000 < 9000 | 0.3 | 99.0 |
| 9000 <10,000 | 0.2 | 99.3 |
| >10,0000 | 0.7 | 100.0 |

इससे पता चलता है कि 2011–12 में भारत के 33.3% लोग 1000 रुपए प्रति–माह से भी कम पर रह रहे थे और करीब 75% 2000 रुपये प्रति–व्यक्ति प्रति–माह से भी कम पर। इसकी तुलना में मध्य से ऊपरी स्तर का भारतीय मैनेजर 10,000 रुपए प्रति–व्यक्ति प्रति–माह से भी काफी अधिक का उपभोग करता होगा। 0.7% का आँकड़ा बहुत छोटा लगता है लेकिन ध्यान रहे कि यह प्रतिशत 1 अरब 20 करोड़ लोगों के देश का है यानी इस आय–समूह में 84 लाख लोग शामिल हैं। यह आँकड़ा इतना बड़ा है कि इस समूह में शामिल लोग अपने ही वर्ग के लोगों से घिरे रहते हैं और बहुत से बहुत गरीब लोगों को देख भी नहीं पाते। सच्चाई तो यह है कि इस देश में 75% लोग ऐसे हैं जिन्हें 2000 रुपए प्रति–व्यक्ति प्रति–माह की आय पर जीवित रहना पड़ता है, जिसमें भोजन, दवा, कपड़े, विद्यालय और महाविद्यालय की फीस, सब खर्च शामिल हैं।

इस तालिका में हमें ऐसी सामग्री मिलती है जिसके परिप्रेक्ष्य में स्कूली शिक्षा के खर्चों को जाँचा–तौला जा सकता है। इससे हमें यह बेहतर समझने में मदद मिलेगी कि परिवार (न कि समाज) से शिक्षा का खर्च वहन किए जाने की अपेक्षा हो तो क्या होगा।

### एक निजी विद्यालय के खर्च

एक निजी विद्यालय या महाविद्यालय चलाने के खर्च का एक अन्दाजा फटाफट लगाया जा सकता है। सम्भावना है कि सबसे बड़ा खर्चा तो शिक्षकों पर होगा। (कुछ विद्यालय शिक्षकों को 4,000 रुपए प्रति माह देते हैं लेकिन आमतौर पर वे गुणवत्ता के मामले में बहुत ही खराब होते हैं)। देखते हैं कि एक काफी हद तक अच्छे और टिकाऊ शिक्षक पर कितना खर्च आता होगा – टिकाऊ से अर्थ है एक ऐसा शिक्षक जो किसी बेहतर जगह जाने के लिए पेशा बदलने को तैयार नहीं होगा। यह भी जरूरी है कि तनख्वाहें ऐसी हों कि कम से कम निम्न–मध्य वर्ग के लोग शिक्षण को अच्छे पेशे के तौर पर देखें और उसमें आने की अभिलाषा रखें, वे मेहनत करने के लिए और इस पेशे को पोषित करने के लिए प्रेरित हों – उसी तरह जैसे इंजिनियरिंग या अकाउंटिंग को मेहनत करने लायक माना जाता है। ऐसा नहीं होता तो हमें बहुत कम योग्यता–प्राप्त और अनिच्छुक शिक्षक मिलेंगे जो शिक्षण को एक जीवंत पेशे के रूप में विकसित करने को तैयार नहीं होंगे।

गैर–सरकारी संस्थाओं में काम करने वालों और छोटे शहरों के विद्यार्थियों से जब मैं पूछता हूँ कि उनके विचार से शिक्षकों के लिए एक अच्छी टिकाऊ तनख्वाह क्या होगी तो वे आमतौर पर 20 से 25 से 30 हजार रुपए की रकम का उल्लेख करते हैं। हम अगर 25,000 को लें तो उस विद्यार्थी के लिए फीस क्या होगी जिसके परिवार को स्कूल के खर्चे वहन करने हैं? 40 विद्यार्थियों की एक कक्षा के सन्दर्भ में यह एक शिक्षक की तनख्वाह के लिए करीब 625 रुपए प्रति विद्यार्थी बनता है। इसमें इमारत, बिजली, प्रशासन, सुरक्षा, कार्यशालाओं आदि के खर्चे जोड़े जा सकते हैं। यदि एक स्कूल को अपने खर्चे स्वयं ही निकालने हों और बहुत हद तक अच्छे शिक्षक रखने हों तो हैरत की बात नहीं होगी कि कम से कम 1000 रुपए माहवार की फीस तय करनी पड़े। जब मैं इस रकम को भारत में एम.पी.सी.ई. की तालिका

के सन्दर्भ में देखता हूँ तो एक बड़ा धक्का लगता है। क्या 2000 रुपए प्रति–व्यक्ति से भी कम पर जी रहे परिवार स्कूल की फीस के नाम पर 1000 रुपए माहवार दे सकते हैं? स्पष्ट है कि ऐसा कर पाना बहुत मुश्किल है। ध्यान रहे कि यहाँ हम भारत के 75% लोगों की बात कर रहे हैं।

निष्कर्ष तो साफ ही है। अगर हमारे विद्यालयों और महाविद्यालयों में शिक्षा का पूरा खर्च माता–पिता को उठाना है, तो अधिक धन वाले लोग उच्च दर की फीस दे सकेंगे और कुछ बेहतर शिक्षक पा सकेंगे। कम पैसे वाले लोगों को औसतन कम अच्छे शिक्षक मुहैया होंगे। कुछ अपवाद तो हो ही सकते हैं – जैसे कि वे प्रतिबद्ध और समर्पित शिक्षक जो वंचित और पिछड़े तबकों के बच्चों को निःस्वार्थ भाव से पढ़ाने के लिए स्वयं को कटिबद्ध करते हैं – असल में तो वे इस देश के नायक और नायिकाएँ हैं। लेकिन अधिकतर लोग इस तरह के नहीं होते। और जब हम सम्पूर्ण समाज के लिए व्यावहारिक प्रबन्ध की बात करते हैं तो हमें आम इन्सानों की बात करनी होगी और देखना होगा कि वे किस तरह अच्छे शिक्षक बनने के लिए तैयार हो सकते हैं, किन तरीकों से उन्हें ऐसा बनने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। हमें यह बात भी करना होगी कि इस तरह की व्यावहारिक व्यवस्थाएँ बनाने या न बनाने के सामाजिक परिणाम क्या होंगे। हम स्वयं को न्यौछावर करने को तैयार गिने–चुने लोगों पर निर्भर नहीं रह सकते।

### शिक्षा के निजीकरण के साथ बढ़ती असमानता

यदि किसी समाज में काफी हद तक सामाजिक असमानता है, जैसा कि हम अपने समाज में पाते हैं, तो शिक्षा के लिए निजी तौर पर अदा की गई कीमत के परिणाम उस कीमत को अदा करने की सामर्थ्य के विभाजन और फैलाव के समानान्तर होंगे। अधिक धनवान लोग कीमत चुकाकर शिक्षा का बेहतर स्तर और गुणवत्ता पा सकेंगे और कम पैसे वाले सीढ़ी के निचले पायदान पर ही रहेंगे। यदि शीर्षस्थ लोग और अधिक ताकतवर बनना चाहते हैं और केवल अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति को बढ़ाने में लगे रहते हैं तो यह समाज, जिसका ढाँचा पहले से ही असमानता दर्शाते एक पिरामिड की तरह है, पहले से भी अधिक पिरामिडीय हो जाएगा (यानी शीर्ष पर बहुत कम लोग और नीचे बहुत अधिक)। निजी शिक्षा की वृद्धि पिरामिड के ऊपरी स्तर के लोगों के लिए मददगार होगी और नीचे के स्तर वालों को कमजोर बनाएगी।

ऊपर दिया गया उदाहरण वर्ग–आधारित असमानता और शिक्षा का था। लगभग ऐसे ही नतीजे जातिगत, क्षेत्रीय, लैंगिक तथा अन्य किस्म की असमानता के सन्दर्भ में अपेक्षित होंगे जब कि इनमें से प्रत्येक में समाज को स्तरीकृत करने की अपनी–अपनी अद्वितीय विशेषताएँ हैं। इनमें से प्रत्येक में यदि विशेष परिवारों की प्रतिकूल परिस्थितियाँ राज्य जैसी बाह्य एजेंसियों द्वारा दुरुस्त नहीं की जातीं तो सामाजिक स्तरीकरण और भी अधिक बढ़ता है।

जिन लोगों ने शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में विचार किया है, उनमें से अधिकतर इस बात पर सहमति व्यक्त करते हैं कि बाकी लोगों को शिक्षा के गिरते पैमाने के हवाले करके कुछ–एक ताकतवर लोगों तक अच्छी शिक्षा को सीमित रखना कोई अच्छी बात नहीं है। शिक्षा के कई उद्देश्य होते हैं, जिनमें स्पष्टता से सोच पाने की सामर्थ्य होना तथा ज्ञानसम्पन्न, विवेकी विकल्प चुन पाना और अपने जीवन को स्वयं नियंत्रित कर पाना, सार्वजनिक जीवन में सक्रियता और विचारशीलता के साथ भाग ले पाना, अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध खड़े हो पाना आदि शामिल हैं। केवल अमीरों को ही ऐसी शिक्षा की जरूरत नहीं है – बल्कि गरीबों को तो इसकी और भी अधिक जरूरत है। एडम स्मिथ निजीकरण के पथ–प्रदर्शकों में से एक थे, उन्होंने भी आज से करीब तीन सौ साल पहले माना था कि शिक्षा को बाजार के बाहर रखे जाने की जरूरत है। उनकी नजर में बाजार तथा वस्तुओं की खरीद–ओ–फरोख्त के माध्यम से व्यक्तिगत चुनाव की प्रक्रिया सामंती निरंकुशता और धर्मान्धता को परास्त करने का सबसे बेहतर तरीका था। इसके लिए विवेक और बुद्धि से चुनाव करने वाले व्यक्तियों की जरूरत थी। लेकिन स्मिथ इस बात पर बल देते थे कि बाजार को भी बेहतर प्रदर्शन करना है तो अच्छी शिक्षा और स्वास्थ्य तो मुहैया करवाए जाने होंगे।

स्मिथ का कहना था कि शिक्षा को बाजार की प्रक्रियाओं के माध्यम से नहीं खरीदा जाना चाहिए, जिससे अधिक पैसे वाले बेहतर शिक्षा पा लें और कम पैसे वाले कमतर। अच्छी शिक्षा सबको मिलनी चाहिए क्योंकि एक न्यायसंगत बाजार के लिए विचारशील और सूचना–सम्पन्न उपभोक्ता का होना एक पूर्व शर्त है। उनका तर्क था कि यदि ऐसा नहीं हो पाता, तो बाजार

सबसे बेहतर विकल्प मुहैया करवाने वाली प्रणाली नहीं रह जाएगा बल्कि ऐसे में अज्ञानता और ताकतवार की चालबाजी निरन्तर बने रहेंगे।

मौजूदा समय में समानता और आजादी के मूल्यों को पूरे संसार में व्यापक बल मिला है। माना जाता है कि उच्च पद और प्रतिष्ठा तक पहुँचने का रास्ता जन्म की वजह से प्राप्त विशेषाधिकार की बजाए योग्यता से हो कर गुजरता है। विद्वत्समाज (meritocracy) इस विचार पर आधारित होता है कि कठिन परिश्रम, प्रेरणा और समर्पण इस बात के लिए निर्णयकारी होने चाहिए कि कौन आगे तक पहुँचता है। लेकिन अगर अच्छी शिक्षा मिल पाना मुख्यतौर से इस बात पर निर्भर है कि आपका जन्म संयोग से अमीर या ताकत–सम्पन्न माता–पिता के घर में हुआ है तो विद्वत्समाज के आदर्श के साथ गम्भीर रूप से समझौता किया जा रहा होगा – निजीकरण असल में इसी बात को और गति देगा।

**अमन मदान** अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु की फैकल्टी के सदस्य हैं। वे सामाजिक असमानता तथा पहचान की राजनीति के प्रश्नों पर काम करते हैं। वे 'एकलव्य', 'दिगन्तर', 'ऐकॉर्ड' आदि गैर सरकारी संस्थाओं से जुड़े रहे हैं। उनसे amman.madan@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रमणीक मोहन

# क्या निजी स्कूल वास्तव में बच्चों के बेहतर अधिगम–परिणाम सुनिश्चित करते हैं?

डी.डी. करोपाडी

निजी और सरकारी स्कूलों की तुलना करने वाली यह बहस सदियों पुरानी है। लेकिन आम धारणा के विपरीत, कई देशों में हाल में हुए शोधों से ये संकेत मिलते हैं कि सामान्य तौर पर निजी स्कूल सरकारी स्कूलों की तुलना में अधिगम–परिणामों को बेहतर नहीं बनाते। इस लेख में हाल में हुए कुछ अध्ययनों के निष्कर्षों की मदद से इसी मुद्दे पर चर्चा की गई है।

## परिचय

क्या भारत में निजी स्कूल वाकई अच्छे हैं? इस लेख के पाठकों के मन में यह प्रश्न कभी न कभी अवश्य आया होगा और पता नहीं कि उन्हें इसका कोई निश्चित उत्तर मिला या नहीं क्योंकि इसका उत्तर खोज पाना आसान नहीं है।

सबसे पहली बात तो यह कि निजी स्कूलों में भी विस्तृत विविधता देखने को मिलती है। जैसे कि अत्यन्त महँगे शहरी निजी स्कूल, प्रीमियम आवासीय स्कूल, 'वैकल्पिक स्कूल', शहरी मध्यम वर्ग की आवश्यकताओं का ध्यान रखने वाले निजी स्कूल, कम फीस लेने वाले निजी स्कूल (ज्यादातर ग्रामीण क्षेत्रों में) इत्यादि। इसलिए इन सभी को एक ही समूह में रखना गलत होगा। इस प्रश्न का उत्तर देना इसलिए भी कठिन हो जाता है क्योंकि 'अच्छे स्कूल' की परिभाषा और उसके मापन के बारे में भी आम सहमति नहीं बन पाई है। शिक्षा एक जटिल विषय है और इस पर स्कूल के भीतर मौजूद अनेक कारकों का प्रभाव तो पड़ता ही है जैसे पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तकें, शिक्षा शास्त्र, शिक्षकों की संख्या, शिक्षकों की तैयारी, शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात आदि; साथ ही घर के वातावरण, सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि, शिक्षा सम्बन्धी सहायता की उपलब्धता जैसे बाहरी कारक भी उसे प्रभावित करते हैं।

अधिगम–परिणाम अनेक मापदण्डों में से केवल एक मापदण्ड है लेकिन यह काफी महत्त्वपूर्ण है और अपेक्षाकृत आसानी से मापा जा सकता है तथा इसे व्यापक रूप से समझा जाता है। इस लेख में मैं कुछ शोध अध्ययनों से प्राप्त ऐसे निष्कर्षों पर चर्चा करूँगा जो अधिगम–परिणामों पर आधारित तरीकों का उपयोग करके इन निष्कर्षों तक पहुँचे हैं। हालाँकि मैं यह तो नहीं कहूँगा कि इनसे स्पष्ट उत्तर मिल जाएँगे लेकिन यह आशा जरूर है कि इससे इस दुरूह विषय पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ेगा।

निजी और सरकारी स्कूलों के बीच की बहस कोई नई बात नहीं है। लेकिन इस सदी की शुरुआत में शिक्षा का अधिकार (आर.टी.ई.) विधेयक के आने से इस बहस में तेजी आई है। हाल के दिनों में निजी स्कूली शिक्षा के समर्थकों और विरोधियों के बीच की खाई बढ़–सी गई है। इसके आलोचक मानते हैं कि निजी स्कूलों से स्कूली शिक्षा के आर्थिक स्तरीकरण को बढ़ावा मिलेगा जो हानिकारक है और बच्चों के निजी स्कूलों में दाखिले से सरकारी स्कूली शिक्षा बिगड़ेगी – शायद इसलिए कि 'बेहतर बच्चे' निजी स्कूलों में चले जाएँगे। उनका कहना है कि निजी स्कूलों के शिक्षकों का वेतन कम है और उनकी गुणवत्ता भी अच्छी नहीं। उन्हें लगता है कि निजी स्कूली शिक्षा से शिक्षा का व्यावसायीकरण बढ़ेगा और अन्ततः इसका नतीजा यह होगा कि शिक्षा समाज के निर्धन और हाशिया वर्ग की पहुँच से बाहर हो जाएगी।

दूसरी ओर इसके समर्थक हैं जो आँकड़ों का हवाला देते हुए कहते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों तक में निजी स्कूलों में नामांकन बढ़ रहा है; लोग अपने बच्चों को निःशुल्क सरकारी स्कूलों से निकालकर फीस लेने वाले निजी स्कूलों में प्रवेश दिला रहे हैं, भले ही इसके लिए उन्हें अपने जीवन के अन्य क्षेत्रों में थोड़ा बहुत त्याग करना पड़े। अगर लोग मुफ्त में मिलने वाली चीज की उपेक्षा कर रहे हैं तो इसमें कोई न कोई कमी तो होगी। इसके समर्थकों का यह तर्क भी है कि निजी स्कूल माता–पिता के प्रति ज्यादा जवाबदेह और अनुक्रियाशील होते हैं और इनमें बच्चों का अधिगम बेहतर होता है।

## ग्रामीण स्कूल

आइए, पहले हम देश के ग्रामीण क्षेत्र के स्कूलों पर नजर डालें जहाँ अब कम फीस लेने वाले कई निजी स्कूल खुल गए हैं और जिनमें दो–तिहाई से ज्यादा बच्चे पढ़ते हैं। इस सदी की शुरुआत से ही भारत में प्राथमिक स्कूलों में नामांकन के आँकड़ों में वृद्धि के साथ–साथ निजी स्कूलों के नामांकन में भी बहुत ज्यादा और लगातार वृद्धि हुई है। यह आँकड़ा शहरी क्षेत्रों में हमेशा से ही उच्च था, एनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट (ASER) 2014 के नवीनतम आकलनों से यह संकेत मिलता है कि ग्रामीण प्राथमिक कक्षाओं के प्रति दस बच्चों में से तीन से अधिक बच्चे निजी स्कूलों में पढ़ते हैं। बच्चे किसी भी सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि के क्यों न हों, इस बात की माँग बढ़ती जा रही है कि निजी स्कूलों में उनके अभिगम को बढ़ाया जाए। निजी स्कूलों की इस बढ़ती लोकप्रियता से यह चिन्ता भी पैदा हो रही है कि सामान्य रूप से समाज में और विशेष रूप से स्कूलों में आर्थिक और सामाजिक स्तरीकरण और न बढ़ जाए। कई लोगों का मानना है कि फीस लेने वाले निजी स्कूलों की इस बढ़ती लोकप्रियता का कारण यह है कि माता–पिता सरकारी स्कूलों से असन्तुष्ट हैं। आँख मूँदकर यह बात मान ली जाती है कि निजी स्कूल बेहतर हैं। यह धारणा कितनी सच है?

निजी स्कूलों के समर्थकों का एक प्रमुख तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि निजी स्कूलों में बच्चों की अधिगम–उपलब्धि बेहतर है। अपने दावे को साबित करने के लिए वे स्कूल की परीक्षाओं में प्राप्त अंकों के व्यापक आँकड़े दर्शाते हैं। चूँकि विभिन्न स्कूलों की परीक्षाएँ अलग होती हैं और दो प्रकार के स्कूलों से प्राप्त आँकड़ों की तुलना नहीं की जा सकती। इसलिए इस तर्क के जवाब में ऐसी परीक्षाओं के परिणाम देखे जाते हैं जो दो प्रकार के स्कूलों में एक साथ तथा एक सामान्य–आकलन–प्रश्न पत्र देकर ली गई हों और उसमें भी निजी स्कूलों के बच्चे सरकारी स्कूलों के बच्चों को मात देते से प्रतीत होते हैं। यही उनका 'ठोस सबूत' है।

इस तरह की सोच की एक गम्भीर सीमा है। सरकारी स्कूल के बच्चों की तुलना में निजी स्कूल के बच्चों की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि काफी अलग होती है। इसलिए यह तुलना बहुत असमान है और इनकी तुलना करना ऐसा ही है जैसे सेब और सन्तरे की तुलना करना। अगर निष्पक्ष रूप से तुलना करनी है तो यह जरूरी है कि समान पृष्ठभूमि वाले निजी और सरकारी स्कूलों के बच्चों का आकलन सामान्य उपकरणों या साधनों का उपयोग करते हुए एक साथ किया जाए।

इसी जरूरत ने आन्ध्र प्रदेश स्कूल चॉइस स्टडी (एपी.एस.सी.) को बढ़ावा दिया। यह एक पंचवर्षीय अनुदैर्घ्य सहगण शोध five-year longitudinal cohort research[1] है जिसमें मूल्यांकन के एक रिगरस रैंडम डिजाइन का प्रयोग किया गया। यह अध्ययन 2008 और 2013 के बीच तत्कालीन आन्ध्र प्रदेश के पाँच जिलों के ग्रामीण क्षेत्रों में किया गया। यह बहुत महत्त्वपूर्ण अध्ययन है – भारत में अपनी तरह का अकेला और दुनिया के सबसे बड़े अध्ययनों में से एक। यह अध्ययन पहली बार सामाजिक–आर्थिक रूप से कमजोर ऐसे बच्चों के प्रभाव पर प्रामाणिक आँकड़े प्रदान करता है जिन्हें छात्रवृत्ति देकर निजी स्कूलों में पढ़ने का अवसर दिया गया। भविष्य में भारत में शिक्षा को दिशा देने की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यह अध्ययन स्पष्ट और निर्णायक रूप से प्रतिपादित करता है कि निजी स्कूलों में पढ़ने के बावजूद 'छात्रवृत्ति प्राप्त बच्चों' को अकादमिक रूप से लाभ नहीं हुआ। तेलुगू, गणित, सामाजिक अध्ययन और अँग्रेजी के अधिगम–उपलब्धि टेस्ट में उनका प्रदर्शन ऐसे बच्चों से बेहतर नहीं है जो पाँच साल बाद भी सरकारी स्कूलों में पढ़े। जाहिर है कि यह बात निजी स्कूलों के बारे में प्रचलित आम धारणा के विपरीत है। दिलचस्प बात तो यह है कि छात्रवृत्ति प्राप्त बच्चों के माता–पिता निजी स्कूलों से खुश होने का दावा करते हैं। विरोधाभास कहाँ है? ये माता–पिता क्यों अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेज रहे हैं?

इस अध्ययन के दौरान एकत्रित गुणात्मक आँकड़ों से सम्भावित उत्तर मिलते हैं। लगता है कि माता–पिता अपने बच्चों के स्मार्ट दिखने, शिक्षकों द्वारा गृह कार्य देने, पढ़ाने के अँग्रेजी माध्यम, समुदाय में अपनी सामाजिक स्थिति के सुधरने जैसी बातों से प्रभावित हो गए थे। स्पष्ट है कि यहाँ कुछ अन्य पहलुओं को अधिगम–उपलब्धि से ज्यादा प्रमुखता दी जा रही है। इसके अलावा लगता है कि निजी स्कूल कुछ ही लोगों को लाभान्वित कर रहे हैं। ऐसा क्यों हो रहा है? शायद इस विरोधाभास का कारण हमें स्कूल के बाहर मिले जैसे बेहतर शिक्षित माता–पिता, घर का बेहतर

शैक्षिक वातावरण और वहाँ पर मिलने वाली सहायता या समर्थन, प्राइवेट ट्यूशन लेना और बच्चों पर कम घरेलू जिम्मेदारियाँ होना।

इस अध्ययन से एक और रोचक प्रश्न सामने आता है – हो सकता है कि इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष सच हों लेकिन यह अध्ययन आन्ध्र प्रदेश से सम्बन्धित है। क्या हमें भारत के अन्य राज्यों से भी इसी प्रकार के निष्कर्ष मिल सकते हैं? निस्सन्देह यह एक बहुत ही वैध (और महत्त्वपूर्ण) प्रश्न है। देश के किसी अन्य भाग में ऐसा कोई अध्ययन नहीं किया गया है जिसकी तुलना इस कठोर और बड़े पैमाने पर किए गए अध्ययन से की जा सके। लेकिन अन्य राज्यों में कुछ और शोध हुए हैं (हालाँकि वे माध्यमिक डेटा विश्लेषण पर आधारित हैं) जो इसी तरह के परिणामों को संकेतित करते हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख APSC अध्ययन के पेपर में किया गया है। हाल ही में असर (ग्रामीण) 2014[2] के एक विश्लेषणात्मक लेख में कहा गया है कि जब स्कूल के प्रकार के अलावा अन्य सभी कारकों का ध्यान रखा जाए तो सरकारी स्कूल और निजी स्कूल के बच्चों के अधिगम–परिणामों में बहुत कम अन्तर दिखाई देता है। इन पंक्तियों के लेखक का तो यह कहना है कि वास्तव में कुछ राज्यों में सरकारी स्कूल के बच्चों का प्रदर्शन बेहतर प्रतीत हो रहा था। इसलिए कुल मिलाकर यही लगता है कि अधिगम–परिणामों के सन्दर्भ में यह जो निष्कर्ष मिला है कि ग्रामीण क्षेत्रों के निजी स्कूल सरकारी स्कूलों से बेहतर नहीं हैं – उसे पूरे देश पर सामान्य रूप से लागू किया जा सकता है।

### शहरी स्कूल

चलिए, अब हम शहरी क्षेत्रों में चलें, विशेष रूप से उन स्कूलों की ओर जिन्हें 'सम्भ्रान्त या उच्च वर्ग का स्कूल' कहा जाता है। इस बारे में एक बहुत रोचक अध्ययन – 'गुणवत्तापूर्ण शिक्षा अध्ययन'[3] 2006 में किया गया। यह अध्ययन विप्रो और एजुकेशन इनिशिएटिव्स द्वारा भारत के मेट्रो शहरों के सर्वश्रेष्ठ स्कूलों में किया गया। इस अध्ययन से संकेत मिलता है कि भारत में सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले स्कूल भी परिपूर्ण नहीं हैं, वहाँ भी अभी बहुत कुछ अपेक्षित है। वहाँ के विद्यार्थियों का प्रदर्शन वैश्विक औसत से नीचे है। ये विद्यार्थी याद करने और प्रक्रियात्मक कौशलों में तो अच्छे हैं लेकिन समझ, अवधारणात्मक स्पष्टता और सोच व अनुप्रयोग जैसे क्षेत्रों में नहीं। अगर शहर के सर्वश्रेष्ठ निजी स्कूलों में ऐसी स्थिति है तो इस बात की कल्पना की जा सकती है कि शहर के अन्य निजी स्कूलों में विद्यार्थियों की क्या हालत होगी।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर एक आँकड़ा और भी उपलब्ध है जो देश में शिक्षा की निराशाजनक स्थिति की पुष्टि करता है। बहुत समझाने–बुझाने के बाद पहली बार देश के दो राज्यों तमिलनाडु और हिमाचल प्रदेश ने पीसा (PISA) 2009+ आकलन[4] में भाग लिया। इसमें 15 साल के बच्चों (ग्रामीण और शहरी इलाकों से रेंडम रूप से चयनित) की अधिगम–उपलब्धि का आकलन किया गया। इसके परिणामों से पता चला है कि भाग लेने वाले 74 देशों में हमारा स्थान नीचे से दूसरा था... बस किर्गिस्तान से ऊपर। उसके बाद भारत ने पीसा में भाग नहीं लिया। हालाँकि ऐसे लोग भी हैं जो पीसा के परीक्षण–साधनों और प्रक्रियाओं से सहमत नहीं हैं लेकिन फिर भी यह अपनी ही कहानी कहता है।

### क्या प्रतिद्वन्द्विता सहायक है?

निजी स्कूलों के समर्थक एक तर्क और देते हैं जो 'प्रतिद्वन्द्विता सिद्धान्त' पर आधारित है। उनका दावा है कि निजी स्कूलों की संख्या बढ़ने से प्रतिद्वन्द्विता भी बढ़ती है जिससे स्कूल की गुणवत्ता में सुधार होता है। यहाँ तक कि सरकारी स्कूलों में भी सुधार देखा जा सकता है। इस विचार के सबूत के रूप में बैंकिंग, एयरलाइंस और मोबाइल टेलीफोन क्षेत्रों के उदाहरण दिए जाते हैं। यह अत्यन्त एकआयामी अर्थमितीय परिप्रेक्ष्य है जो एक 'सामाजिक उद्देश्य' को वाणिज्यिक माल के साथ मिलाना चाहता है। ये दोनों तो तुलनीय हैं ही नहीं। अफसोस है कि वे लोग इस तर्क का उपयोग आक्रामक तरीके से करते हैं जो 'शिक्षा वाउचर्स' (या इसे स्कूल विकल्प के रूप में भी जाना जाता है) के पक्ष में बात करते हैं। अब ऐसे सबूत बढ़ते जा रहे हैं जो सुझाते हैं कि वास्तव में शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता हानिकारक हो सकती है। अगस्त 2014 के PISA Infocus 42[5] पर आधारित एक विश्लेषणात्मक विश्लेषण इंगित करता है कि स्कूल विकल्प से अलगाव बढ़ सकता है जो अधिगम की उपलब्धियों के लिए हानिकारक है। कई लोगों को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि फिनलैण्ड, जो लगातार कई वर्षों तक शिक्षा की गुणवत्ता के मामले में सबसे आगे माना जाता है, के स्कूलों में

कोई 'मानकीकृत आकलन'[6] नहीं है। उनका फोकस तो समावेशन और समता पर है। जाहिर है कि भारत के निजी और सरकारी स्कूलों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

## निष्कर्ष

अपने निष्कर्ष में मैं यह बात जोड़ना चाहता हूँ कि इस लेख का आशय निजी स्कूलों की भर्त्सना करना कदापि नहीं है। सरकारी स्कूलों की अपनी समस्याएँ और कमियाँ हैं। इसका अभिप्रेत तो यह है कि देश में शिक्षा की गुणवत्ता पर बहस करने के लिए एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया जाए। आँख मूँदकर यह मान लेना सही नहीं होगा कि निजी स्कूल अच्छी शिक्षा देते हैं। हाल के दिनों में हुए अन्तरराष्ट्रीय स्तर के अधिकाधिक अध्ययन यह संकेत देते हैं कि निजी स्कूल सरकारी स्कूलों से बेहतर नहीं हैं। भारत में ऐसे स्कूल हैं (सरकारी और निजी दोनों) जो अपने विद्यार्थियों को बहुमुखी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने का अच्छा कार्य कर रहे हैं। हालाँकि ऐसे स्कूल कम हैं। हमारी कोशिश तो यह होनी चाहिए कि हम इन स्कूलों की गुणवत्ता को कैसे सुधार सकते हैं। इसका एक तरीका तो यह हो सकता है कि स्कूल के स्तर पर भारतीय स्कूलों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली विधियों को अपनाया जाए और प्रणालीगत तथा नीति के स्तर पर फिनलैण्ड जैसे देशों से सीखा जाए।

**References :**


1. 'Does school choice help rural children from disadvantaged sections? Evidence from longitudinal research from Andhra Pradesh', D D Karopady, Economic and Political Weekly, December 2014, Mumbai, India
2. 'Government vs private schools: Have things changed', Willima Wadhwa, ASER (Rural) 2014, ASER Center, New Delhi
3. 'Wipro-EI Quality Education Study, 2011', accessed online at http://www.wiproapplyingthoughtinschools.com/sites/default/files/ Wipro%20-%20EI%20Quality%20 Education%20Study%20-%20 Executive_Summary.pdf
4. Results of PISA 2009+ released by ACER, December 2011 accessed online at http://www.acer.edu.au/media/article/acer-releasesresults-of-pisa-2009-participant-economies
5. PISA in Focus 42, Organisation for Economic Cooperation and Development, August 2014 accessed online at http://www.oecd. org/pisa/pisaproducts/ pisainfocus/ PISA-in-Focus-N42-(eng)-FINAL.pdf
6. 'Education System', Finnish National Board of Education, accessed on line at http://www.oph.fi/english/education_system



**डी.डी. करोपाडी** अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के रिसर्च सेण्टर के सलाहकार हैं। इससे पहले वे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में शोध और प्रलेखन विभाग के प्रमुख थे। कार्पोरेट क्षेत्र में मार्केट रिसर्च के दो दशकों के अनुभव के बाद वे सामाजिक कार्यक्षेत्र में आए। उन्होंने आई.आई.टी. कानपुर से प्रौद्योगिकी में बुनियादी डिग्री और बाद में आई.आई.एम. कलकत्ता से स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त की। उनसे karopady@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के लिए आर.टी.ई. अधिनियम का महत्त्व

बी.एस. ऋषिकेश

**परिचय**

आर.टी.ई. अधिनियम 2009 'भारत में बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के अधिकार' के बारे में है। यह अधिनियम बच्चों के बारे में है स्कूलों के बारे में नहीं, इसलिए यह अधिनियम सभी स्कूलों के लिए महत्त्वपूर्ण है। किन्तु लोकप्रिय धारणा के साथ–साथ विभिन्न राज्यों के शिक्षा विभागों द्वारा अधिनियम के एक गौण प्रावधान को लागू करने की ओर अत्यधिक ध्यान देने और सुप्रीम कोर्ट के कुछ निर्णयों के कारण यह माना जा रहा है कि वास्तव में इसका सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के साथ कोई लेना–देना नहीं है। इसका और इस अधिनियम से जुड़े अन्य मिथकों का स्पष्टीकरण जरूरी है। इसलिए इस लेख में सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के लिए आर.टी.ई. अधिनियम के महत्त्वपूर्ण पहलुओं का विस्तृत वर्णन करने की बजाय यह प्रयास किया जाएगा कि अधिनियम पर ही विस्तार से चर्चा की जाए ताकि यह मिथक दूर हो जाए कि यह अधिनियम निजी स्कूलों में आरक्षण के बारे में है और इसका सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के साथ कोई लेना–देना नहीं।

सबसे बड़ा मिथक यह है कि 'भारत में आर.टी.ई. अधिनियम शिक्षा के निजीकरण के बारे में है।' हाल ही में एक उच्च स्तरीय मीटिंग में मैंने एक सज्जन को लगातार यह कहते हुए सुना कि अगर शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति करनी है तो उसका एक ही रास्ता है कि आर.टी.ई. अधिनियम को समाप्त कर देना चाहिए! प्रभावशाली नीति निर्माताओं की मीटिंग में ऐसी टिप्पणी सुनकर मैं भौंचक्का और अवाक रह गया। फिर मैंने यह जानने की कोशिश की कि वह कौन–सी बात है जिसकी वजह से वे महाशय अधिनियम के खिलाफ इतना कड़ा और आलोचनात्मक रुख अपना रहे हैं। मैंने उनसे मीटिंग के बाद बात की। उन्होंने जो कुछ कहा उससे मुझे इस बात में और ज्यादा विश्वास हो गया कि कानून की आवश्यकताओं के अनुपालन को सुनिश्चित करने में होने वाली असफलता/देरी के लिए हमारे मन में जो कारण है वह एकदम सही है और वह कारण है – अधिनियम के सभी प्रावधानों का प्रभावी तरीके से प्रसार न कर पाना। यह महाशय स्पष्ट रूप से ऐसा मानते थे कि जो बुराइयाँ हमारी शिक्षा प्रणाली को त्रस्त कर रही हैं, उन सबका जवाब निजी स्कूल हैं। उनका विचार था कि यह अधिनियम मुख्य रूप से, प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने के द्वारा, निजी स्कूलों को विनियमित करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जबकि सरकार द्वारा संचालित स्कूल साफ बच निकलते हैं यहाँ तक कि बुनियादी सुविधाओं के क्षेत्र में भी। यह बात सच नहीं है। और अगर अपने देश में शिक्षा की प्रगति में रुचि रखने वाला कोई व्यक्ति इस अधिनियम की व्याख्या इस तरह से करता है तो कल्पना की जा सकती है कि विभिन्न हितधारकों के साथ क्या हो रहा होगा।

**पाँच वर्षों में 2,04,000 करोड़ रुपए का खर्चा – क्या विधान को लागू करने के लिए यह लागत बहुत ज्यादा है?**

अपने बच्चों का उज्ज्वल भविष्य सुनिश्चित करने के लिए पाँच वर्षों में दो लाख करोड़ रुपए किसी भी दृष्टि से 'बहुत ज्यादा धन' नहीं है, जैसा कि बताया जा रहा है! अगर देश में शहरी आबादी के लिए मेट्रो सिस्टम पर करोड़ों रुपए खर्च करना उचित है तो अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पर कुछ करोड़ रुपए खर्च करना जायज कैसे नहीं हो सकता।

आर.टी.ई. अधिनियम 2009 में स्कूल के मानदण्डों और मानकों के लिए सात अध्यायों के 38 खण्ड और एक अनुसूची है। हर धारा में कई उपधाराएँ और खण्ड व उपखण्ड हैं। खेद की बात यह है कि देश के ज्यादातर लोगों के लिए आर.टी.ई. की समझ इन सभी प्रावधानों में से केवल एक प्रावधान तक सीमित है। जी हाँ, केवल एक – जो 12 (1) (c) है; यह धारा 12 की उपधारा 1 (c) है जिसमें कहा गया है : "इस अधिनियम के प्रयोजन के लिए, एक स्कूल, – जिसे धारा 2 के खण्ड

(n) के उपखण्ड (iii) और (iv) में निर्दिष्ट किया गया है, पहली कक्षा में कुल विद्यार्थियों के 25% तक ऐसे विद्यार्थियों को भर्ती करेगा जो उस स्कूल के आसपड़ोस के कमजोर और वंचित वर्गों के हैं और उन्हें प्राथमिक शिक्षा के पूरा होने तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा।'' इस प्रकार यह प्रावधान एक खास तरह के स्कूलों की बात करता है जो अधिनियम के अनुसार ऐसा स्कूल होगा जो 'गैर सहायताप्राप्त स्कूल हो और जिसे अपने खर्चों को पूरा करने के लिए उपयुक्त सरकारी या स्थानीय प्राधिकार से किसी भी प्रकार का अनुदान नहीं मिल रहा हो'; और जिसे सामान्य भाषा में हम 'शुद्ध' निजी स्कूल कहते हैं (सहायता प्राप्त निजी स्कूल की तुलना में)।

यह बहुत ही खेदजनक बात है कि एक राष्ट्र के रूप में हमने इस अधिनियम को इतना छोटा बनाकर रख दिया है। इसमें हम सभी भागीदार हैं फिर चाहे हम शिक्षा विभाग के अधिकारी हों, माता–पिता हों, एक्टिविस्ट हों या शिक्षाविद हों – हम सभी दोषी हैं कि हमने केवल 12 (1) (c) पर ध्यान दिया। शिक्षा विभाग के अधिकारियों के रूप में हमारा पूरा ध्यान इस विशेष प्रावधान को लागू करने में लगा रहा। माता–पिता के रूप में हम या तो इस प्रावधान के तहत अपने बच्चों को निजी स्कूलों में प्रवेश दिलाने के बारे में सोचते रहे या इस चिन्ता में लगे रहे कि पहले से ही निजी स्कूल में पढ़ रहे हमारे बच्चों पर इस प्रावधान का क्या असर होगा। एक्टिविस्ट के रूप में हम इसे लागू करने के निष्पक्ष और पारदर्शी उपायों की खोज करते रहे। और शिक्षाविद के रूप में हम इस प्रावधान के पक्ष और विपक्ष में लिखते रहे या यह लिखते रहे कि इसने हमारी शिक्षा व्यवस्था को कैसे प्रभावित किया है। इससे जो हानि हुई वह इतनी व्यापक है कि अगर आप अपने आसपास किसी से भी इस अधिनियम के बारे में पूछें तो ज्यादातर उत्तर इन तीन–चार शब्दों में होंगे कि : 'निजी स्कूलों में 25% आरक्षण'।

अधिनियम में अन्य 37 अनुभाग हैं जिनमें स्कूल से सम्बन्धित ढेर सारे मुद्दों के बारे में चर्चा की गई है, अतः अधिनियम के महत्त्व को समझने के लिए हमें 12 (1) (c) के परे जाकर उन पर एक नजर डालनी होगी।

इस अधिनियम में जिन बातों को समाविष्ट किया गया है – उन्हें जानने का एक तरीका तो यह है कि विभिन्न अध्यायों के शीर्षकों पर नजर डाली जाए। पहले अध्याय को छोड़कर, जिसका शीर्षक 'प्रस्तावना' है और जिसमें 'बच्चा', 'स्कूल', 'अभिभावक', 'स्थानीय प्राधिकारी' और 'कैपिटेशन शुल्क' आदि की परिभाषाएँ दी गई हैं, बाकी के अध्याय अधिनियम के विभिन्न पहलुओं के आधार पर वर्गीकृत किए गए हैं। उदाहरण के लिए चौथा अध्याय 'स्कूलों और शिक्षकों के दायित्व' के बारे में है और तीसरा अध्याय 'सरकारी/स्थानीय अधिकारियों तथा माता–पिता के कर्तव्यों' से सम्बन्धित है; पाँचवें में पाठ्यचर्या के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों की बात की गई है। अगले अध्याय में 'बच्चों के इस अधिकार के संरक्षण', उसके लिए किए जाने वाले उपायों और उन्हें लागू करने के लिए नामित प्राधिकारियों के बारे में बताया गया है। इस प्रकार इस अधिनियम में पाठ्यचर्या के सुधारों, शिक्षकों की न्यूनतम योग्यता, स्कूल के न्यूनतम कार्य दिवस और शिक्षकों के कार्य करने के घण्टे, प्राथमिक स्कूल में आठों कक्षाओं में से प्रत्येक के लिए उपयुक्त शिक्षक अनुपात, स्कूल प्रबन्धन समितियों की रचना और किसी संस्था को स्कूल मानने के लिए आवश्यक अनेक मानदण्ड और मानक – जैसे हर मौसम के लिए उपयुक्त इमारत और शौचालय से लेकर सक्रिय पुस्तकालय और खेलकूद की सामग्री तक की सभी बातें समाविष्ट की गई हैं। इन सब प्रावधानों के साथ, इसमें हमारी प्रगति को समर्थन देने के लिए कुछ नियमों और विनियमों की चर्चा भी है, जिसमें समकालीन विचारों का ध्यान रखा गया है जैसे कक्षा–आधारित आकलन को प्रोत्साहन

### क्या 12-9 लाख शिक्षकों की कमी पूरी की जा सकती है?

कोई भी शिक्षा प्रणाली अपने शिक्षकों में निवेश किए बिना प्रगति नहीं कर सकती। उत्तर प्रदेश में शिक्षकों की सबसे ज्यादा कमी है। शिक्षा के इस महत्त्वपूर्ण पहलू को हम नजरअन्दाज करते आए हैं। अब शिक्षकों की कमी को दूर करने का हमारे पास बस यही तरीका बचा है कि उचित शैक्षिक योग्यता वाले एक लाख से भी अधिक शिक्षकों को नए सिरे से तैयार करें। यह अतिरिक्त संख्या 1:30 के नए शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात सम्बन्धी क्षतिपूर्ति के लिए अभिकल्पित की गई है। शिक्षकों के 5.5 लाख पद रिक्त पड़े हैं। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए हमारे पास पाँच वर्ष का समय है कि सभी शिक्षक उचित पेशेवर योग्यता रखने वाले हों।

देना, बच्चों को उसी कक्षा में न रोकना (फेल न करना), शारीरिक दण्ड निषिद्ध करना आदि। यह हमारे समाज की कुछ नकारात्मक बातों का भी निषेध करता है जैसे – कैपिटेशन फीस या 'प्रवेश के लिए डोनेशन' जो धन हथियाने के लिए देश के अधिकांश 'अच्छे' स्कूलों (सार्वजनिक और निजी दोनों) का एक सामान्य तरीका है, कुछ स्कूल टीसी (ट्रान्सफर सर्टिफिकेट) देने से इनकार करते हैं जो वहाँ के प्रधानाध्यापक/प्रबन्धन का एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है जिसका प्रयोग वे उन माता–पिता और बच्चों को डराने के लिए करते हैं जो उनके द्वारा प्रतिष्ठापित पेचीदा और विकृत विचारों को नहीं मानते आदि – और यह सब इस आशा के साथ किया गया है कि हम खुद को इन प्रथाओं से मुक्त करने की दिशा में एक कदम आगे बढ़ रहे हैं।

**द हब फॉर एजुकेशन, लॉ एण्ड पॉलिसी (hELP)**

द स्कूल ऑफ पॉलिसी एण्ड गवर्नेन्स, अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु, शिक्षा नीति से सम्बन्धित मामलों पर काम करता है और आर.टी.ई. पर खासतौर से ध्यान देता है। अधिनियम के पारित होने के बाद यह महसूस किया गया कि हितधारकों में इसका प्रचार–प्रसार सही तरीके से नहीं हुआ और इसके अनुपालन की विफलता/विलम्ब का कारण भी यही था। hELP को लगा कि एक ऐसे साधन की जरूरत है जो सभी हितधारकों – जैसे स्कूल प्रशासन, स्कूल प्रबन्धन समिति (एस.एम.सी.), माता–पिता और विद्यार्थी आदि में इस बारे में जागरूकता पैदा करे कि आर.टी.ई. अधिनियम के तहत उनके अधिकार और दायित्व क्या हैं। इसलिए 'अधिकार आधारित ढाँचे' का प्रयोग करके आर.टी.ई. जागरूकता परियोजना बनाई गई ताकि आर.टी.ई. के अधिकार अधिक व्यापक रूप से प्रचारित किए जा सकें। प्राइमर और आत्म–आकलन उपकरणों की संकल्पना की गई। अपने भागीदारों (जैसे कि अक्षरा फाउण्डेशन, BOSCO, सेव द चिल्ड्रन और अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन का यादगीर जिला संस्थान) के साथ hELP ने कर्नाटक भर में लगभग 1000 स्कूलों में आर.टी.ई. के बारे में जागरूकता फैलाने की परियोजनाएँ शुरू की हैं। भारत के विभिन्न भागों में इसे शुरू करने के लिए hELP को सहभागियों की आवश्यकता है।

शिक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण ये सभी प्रावधान इसी अधिनियम का हिस्सा हैं और इसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि यह पूरे देश के सभी सार्वजनिक और निजी प्राथमिक स्कूलों पर लागू होता है सिवाय जम्मू और कश्मीर के (जिसने बाद में अपना ही आर.टी.ई. लागू किया)। 2009 में भारतीय संसद ने शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई.अधिनियम) लागू किया जिसके तहत शिक्षा को 6 से 14 साल के हर बच्चे का मौलिक अधिकार बनाया गया। यह अधिनियम अप्रैल 2010 में अस्तित्व में आया और यह उम्मीद की गई कि तीन साल के अन्दर सभी स्कूल इसका पालन करने लगेंगे। जिन राज्यों को शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात की जरूरत को पूरा करने के लिए बहुत अधिक संसाधन जुटाने थे, उन्हें यह छूट दी गई कि वे पाँच साल के भीतर इसका पालन सुनिश्चित करें। प्रावधान जो भी हों, सभी स्कूलों को इसका पालन करना था – चाहे वे सार्वजनिक तौर पर संचालित हों या निजी तौर पर और देश के किसी भी भाग में स्थित हों।

पुनः इस लेख के केन्द्रीय भाव पर लौटते हुए हम यह कहना चाहेंगे कि इसमें कोई शक नहीं कि आर.टी.ई. हमारी सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह अधिनियम हमारी सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के सुधार के लिए आवश्यक कई कदम उठाने का अधिकार देता है ताकि हम एक सामान्य स्कूल प्रणाली की दिशा में बढ़ सकें। इस अधिनियम के प्रावधानों का उपयोग करके अगर हम अधिनियम में परिकल्पित स्कूल में अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने के अधिकार के लिए लड़ें तो हमें निजी स्कूलों की जरूरत ही क्यों पड़ेगी? फिर तो यहाँ उत्कृष्ट सार्वजनिक स्कूल होंगे जिनमें अपेक्षित आधारिक संरचना, मानव संसाधन और उपयुक्त व आधुनिक पाठ्यक्रम होगा। जिनमें हमारे संविधान के सिद्धान्तों का ध्यान रखा जाएगा। इनमें निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा दी जाएगी और जहाँ हममें से अधिकांश लोग अपने बच्चों को भेजना चाहेंगे – ठीक वैसे ही जैसे कुछ दशक पहले हमारे देश में थे*– और जैसे अभी विकसित दुनिया के अधिकांश भागों में हैं!

अस्तु, हम सभी जानते हैं कि कानून उतना ही अच्छा होता है जितना कि वे लोग/समाज जहाँ इसे लागू किया जाता है। किसी लक्ष्य को अधिनियम में बदल देने मात्र से अधिकता की उम्मीद नहीं की जा सकती। लेकिन फिर भी कानून एक निर्दिष्ट बिन्दु है और अगर

हम चाहते हैं कि यह अपने कार्य में सफल हो तो हमें पूरे समाज पर भरोसा करना होगा। हमें इस विधेयक के प्रावधानों की मदद से इसके लिए सकारात्मक शक्ति का सृजन करना होगा। शिक्षा का अधिकार समानता, गरिमा और स्वतन्त्रता के अधिकार से जुड़ा हुआ है। जहाँ एक ओर यह अधिनियम सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा को प्राप्त करने की कोशिश करता है, वहीं दूसरी ओर यह इस बात पर भी पर्याप्त ध्यान देता है कि बच्चों को अधिगम के लिए समानतापूर्ण और गरिमामय स्थान उपलब्ध हो। गरिमा और समानता की धारणा केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि वह एक ऐसा संकल्पनात्मक ढाँचा प्रदान करता है जिसके तहत बच्चों के विभिन्न हकों को वर्गीकृत किया जा सकता है।

अधिकार–आधारित दृष्टिकोण हमारे लिए अनजाना है – इसलिए अगर यह सुनिश्चित करना हो कि हमारे बच्चे अपने अधिकार का लाभ उठाएँ तो सामाजिक स्तर पर मानसिकता को बदलना आवश्यक है; सच पूछा जाए तो हमें प्रोत्साहन–आधारित रूपरेखा (जिसमें हम कार्य करते हैं) से अधिकार–आधारित रूपरेखा की ओर जाना होगा। अधिनियम को परिचालित करने के सन्दर्भ में भी ऐसा ही करना होगा।

यह अधिनियम बच्चे के अधिकारों और अन्य हितधारकों के तदनुरूपी दायित्वों की एक रूपरेखा प्रदान करता है। राज्य और इससे सम्बन्धित अन्य लोग कानूनी तौर पर इस बात के लिए बाध्य हैं कि वे अपने–अपने पदों पर रहते हुए अपने कर्तव्यों का पालन इस प्रकार से करें कि बच्चों को शिक्षा का अधिकार मिल सके। उदाहरण के लिए एक स्थानीय प्राधिकारी की जिम्मेदारी यह है कि वह पड़ोस के क्षेत्र में स्कूलों की पर्याप्त पहुँच सुनिश्चित करे। इसी तरह स्कूल को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वह निर्धारित मानदण्डों और मानकों के अनुरूप है; शिक्षक इस बात के लिए बाध्य हैं कि वे प्रत्येक बच्चे की प्रगति का ध्यान रखें और माता–पिता स्कूल के विकास के लिए जिम्मेदार हैं। जब बात सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की हो तो ये सारी विशेषताएँ और भी बढ़ जाती हैं – और यही बात सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के लिए आर.टी.ई. अधिनियम के महत्त्व को अद्‌भुत बनाती है।

---

*कुछ दशक पहले अधिकतर निजी स्कूल सहायता प्राप्त स्कूल थे और इसीलिए व्यावहारिक रूप से सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली का हिस्सा थे।

**बी.एस.ऋषिकेश** स्कूल ऑफ पॉलिसी एण्ड गवर्नेन्स, अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर हैं। वे विश्वविद्यालय में द हब फॉर एजुकेशन, लॉ एण्ड पॉलिसी का नेतृत्व भी करते हैं। वे शैक्षिक आकलन और शिक्षक–शिक्षा के क्षेत्र में शोध करने में रुचि रखते हैं और शिक्षा नीति से सम्बन्धित मौजूदा मामलों के साथ वे गहन रूप से जुड़े हुए हैं। उनसे rishikesh@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल

# सार्वजनिक न्यूनताओं के लिए सार्वजनिक समाधानों की आकांक्षा करना

मानबी मजूमदार और कुमार राणा

हम सब कई सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साथ में मिल–जुलकर कार्य करते हैं। 1943–40 के दौरान बंगाल में आत्म–विनाशकारी घटनाओं पर टिप्पणी करते हुए टैगोर ने बहुत खेद के साथ कहा था, 'लोग यहाँ तिनका–तिनका करके किसी चीज की रचना करने के लिए सम्मिलित नहीं होते, लेकिन जो पहले से ही बना हुआ है उसे ध्वंस करने का अपवित्र आनन्द लेने के लिए झुण्ड बनाकर आ जाते हैं।'

इस संक्षिप्त लेख का उद्देश्य यही बताना है कि रचनात्मक सामाजिक उद्देश्यों के लिए सामूहिक रूप से प्रयास करना सम्भव है। हाल ही में शान्ति निकेतन में 'स्कूल स्वास्थ्य और स्कूल का स्वास्थ्य' विषय पर प्रतीचि (भारत) ट्रस्ट द्वारा एक कार्यशाला आयोजित की गई जिसमें स्कूल के शिक्षकों, आँगनवाड़ी के कार्यकर्ताओं, स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं और कई 'साधारण या जमीनी स्तर' के शिक्षा तथा स्वास्थ्य अधिकारियों के सामान्य प्रयत्न और अनुभव प्रस्तुत किए गए। उन्हीं के आधार पर इस संक्षिप्त रिपोर्ट में यह बताने का प्रयास किया गया है कि हम जैसे सामान्य लोगों में भी, जो यह दावा नहीं करते कि हममें अलौकिक गुण हैं, इस बात की इच्छा होती है और यह संकल्प होता है कि हम सार्वजनिक न्यूनताओं को दूर करने के लिए सार्वजनिक समाधान ढूँढ़ें और उसके लिए सहयोग दें।

हर सार्वजनिक संस्था को – फिर चाहे वह सरकारी स्कूल हो, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र हो या आँगनवाड़ी केन्द्र हो (हालाँकि इसमें सैन्य संगठन लगभग नहीं आते) – मौजूदा प्रबल सार्वजनिक और नीति की चर्चाओं में अकसर एक बेकार, अप्रभावी और प्रणाली को विफल करने वाला माना जाता है। जो कुछ भी 'सार्वजनिक' है, उसके खिलाफ सामान्यतया एक सन्देहास्पद भाव दिखाई देता है। हम तेजी से व्यक्तिगत, विशिष्ट, निजी या प्राइवेट विकल्पों की तरफ भागते हैं, जैसे कि प्राइवेट डॉक्टर, प्राइवेट ट्यूटर, प्राइवेट परिवहन और यहाँ तक कि एक दरवाजाबन्द आवासीय परिसर, एक प्राइवेट गलियारा और एक पृथक पगडण्डी आदि। इस मीटिंग के प्रतिभागियों ने अपनी समतावादी सम्भावनाओं के लिए बड़ी सख्ती के साथ सार्वजनिक संस्थाओं की रक्षा करने की आवश्यकता को रेखांकित किया और उसमें मौजूद गुणवत्ता सम्बन्धी खामियों को दूर करने की बात भी कही। उन्होंने अपने अनुभव भी बताए कि किस तरह से उन्होंने अपने–अपने क्षेत्रों में घर और स्कूल के बीच एक मजबूत तथा सकारात्मक सम्बन्ध बनाने की, पूर्व–स्कूली बच्चों के पोषण तथा स्वास्थ्य की देखभाल में माताओं की सक्रिय भागीदारी को प्रोत्साहित करने की और बच्चों के शारीरिक, भावनात्मक तथा संज्ञानात्मक विकास को बढ़ावा देने के लिए स्कूल एवं स्वास्थ्य केन्द्र के बीच बेहतर समन्वय सुनिश्चित करने की कोशिश की। ये गतिविधियाँ दो अलग और समान रूप से चुनौतीपूर्ण कार्यों पर ध्यान देती हैं : बेहतर सुविधाओं और सेवाओं के लिए माँग पैदा करना और इन माँगो को पूरा करने के लिए सामूहिक कार्रवाई का प्रबन्ध करना।

### स्कूल स्वास्थ्य और सामाजिक स्वास्थ्य

एक स्वास्थ्य कर्मचारी ने इस बात की ठोस जानकारी दी कि कुछ स्थितियों में स्तनपान कराने वाली और गर्भवती माताएँ इस बात पर ध्यान क्यों नहीं देतीं कि लोहयुक्त गोलियों के साथ विटामिन सी की गोलियाँ लेना महत्त्वपूर्ण है ताकि शरीर में लोह का बेहतर अवशोषण हो सके। साथ ही उन्होंने कुछ सामाजिक दबावों के बारे में भी बताया जैसे कि कम उम्र की लड़कियों की शादी कर देना जो माताओं में रक्त की कमी का प्रमुख कारण है। उन्होंने अपनी अनुभवी टिप्पणी में कहा, 'जब तक हम अपने पूरे समाज को ऐसी बातों के खिलाफ उकसाएँगे नहीं, तब तक हमारे प्रयास अप्रभावी रहेंगे।'

फिर प्राथमिक स्कूल अध्यापकों के एक समूह ने अपने स्कूल के निकट एक स्वास्थ्य सर्वेक्षण के आयोजन में अपने विद्यार्थियों की भागीदारी से सम्बन्धित अनुभव को साझा किया। सर्वेक्षण के दौरान विद्यार्थियों को अपने इलाके में स्वच्छता की स्थिति और पेयजल की सुविधा के बारे में वस्तुस्थिति का पता लगाना था और अपने

परिवेश की वास्तविकता के बारे में एक सामाजिक समझ का निर्माण करना था। सर्वेक्षण के पहले दौर के बाद एक बच्चे ने अपने अध्यापक से अनुरोध किया, 'सर, कृपया मुझे अमीरों घर मत भेजिए, वे मेरी अवहेलना करते हैं।' इस अध्यापक ने प्रतिभागियों को याद दिलाया कि, 'इस प्रकार बच्चे को पता चल जाता है कि हम श्रेणीकृत/अनुस्तरित समाज में रहते हैं।' इन बच्चों में सक्रिय नागरिकता की भावना पैदा करने में इन अध्यापकों की ईमानदारी साफ नजर आती है। यह सही है कि 'लोक ज्ञान' हमेशा सहायक नहीं होता लेकिन इस उदाहरण में बुद्धि और ज्ञान का जो प्रदर्शन हुआ वह बच्चों में नागरिक सरोकार का विकास करने में बहुत कारगर सिद्ध होगा।

इस कार्यशाला में अनेक वक्ताओं ने बताया कि कैसे उन्होंने अपने विद्यार्थियों को स्वच्छता, हाथ धोने और शौचालय के उपयोग की स्वस्थ आदतें सिखाने के लिए नए–नए कदम उठाए हैं। शोध से पता चलता है कि भारत के कई हिस्सों में घरों में शौचालय के होते हुए भी लोग शौच के लिए बाहर ही जाते हैं। इस प्रकार शौचालय का उपयोग केवल उसकी उपलब्धता पर निर्भर नहीं है लेकिन उसके लिए व्यवहार में परिवर्तन लाने की जरूरत है। एक स्कूल के अध्यापक ने इस बात का उदाहरण दिया कि व्यवहारगत परिवर्तन के इस अत्यन्त चुनौतीपूर्ण कार्य को आगे बढ़ाने के लिए स्कूल क्या कर सकता है। एक गाँव में तकरीबन सारे लोग अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के थे। वहाँ नौ वर्ष पहले केवल दो शौचालय थे। अब हर परिवार ने सरकार से मामूली–सी सहायता लेकर अपने घर में शौचालय बनवा लिए हैं और ऐसा करने में स्थानीय स्कूल ने मुख्य भूमिका निभाई। प्रत्येक घर से कचरा इकट्ठा करके समुचित रूप से उसका निपटान करना भी अब एक स्वीकृत अभ्यास बन चुका है। एक उपयुक्त रसोईघर में स्कूल का भोजन बनाना, बर्तनों की सफाई, खाने के पहले और बाद में हाथ धोना आदि बातें इस स्कूल के लिए नियमित बात हो गई है। स्कूल की चाबियाँ गाँव वालों के पास रखी जाती हैं। स्वास्थ्य और आई.सी.डी.एस. कार्यकर्ता और अध्यापक आपस में नियमित रूप से सम्पर्क में रहते हैं। अध्यापक के शब्दों में,'हमने गाँव और स्कूल को मिलाकर एक कर दिया है। स्कूल पूरे गाँव की आम सम्पत्ति बन गया है।'

यह सच है कि एक सरकारी स्कूल से यह अपेक्षा करना उचित नहीं है कि वह बच्चों को भाषा, गणित, इतिहास आदि का बुनियादी प्रशिक्षण देने के साथ–साथ अकेले ही हमारे चारों ओर मँडराने वाली ढेर सारी सामाजिक समस्याओं से भी निपट लेगा। फिर भी यह एक ऐसी सार्वजनिक संस्था है, जो सिद्धान्त रूप में, समुदाय और समाज के कई स्तरों और परतों को प्रभावित कर सकती है ताकि वे अपने कुछ आपत्तिजनक व्यवहारों और सामाजिक प्रथाओं की पुनः जाँच कर सकें। और स्कूल बच्चों के माध्यम से सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश करने की कोशिश कर सकते हैं। जैसा कि एक अध्यापक ने बताया कि स्कूली वातावरण को एक रचनात्मक तरीके से कैसे निरूपित किया जाए जिससे कि वह आगे चलकर सामाजिक संसार को एक सुन्दर आकार दे। उसने कहा कि, 'अगर हम बचपन में ही बच्चों में स्वच्छता की आदत डाल दें तो समाज का स्वास्थ्य सुधारने में आसानी होगी। ये हमारे विद्यार्थी ही तो हैं जो हमारे प्रयत्नों को अपने घरों तक ले जाते हैं।'

जब स्कूल में प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाएँ प्रदान करने के लिए समुदाय–व्यापी अभियान और आन्दोलन चलाए जाएँगे तो शायद आमतौर पर सुस्त नौकरशाही मानदण्ड और अभ्यास भी जीवन्त हो जाएँ। स्कूल के शिक्षकों के एक समूह ने इस तरह की एक सामूहिक पहल की शुरुआत की और लोक स्वास्थ्य यांत्रिकी विभाग के स्थानीय अधिकारियों के साथ कई बैठकों में भाग लिया जिसमें उन्होंने अपने स्कूल में पेयजल की आपूर्ति के लिए पी.एच.ई. कनेक्शन की माँग की, खासकर इसलिए क्योंकि मौजूदा पी.एच.ई. पाइप लाइन सिर्फ 160 मीटर की दूरी पर है। उनके ये अनवरत प्रयास सफल हुए। अब स्कूल में एक वाशबेसिन है, एक जलाशय है और सुरक्षित पेयजल की आपूर्ति निश्चित है। जैसा कि उनमें से एक ने कहा, 'हम एक स्वस्थ स्कूली वातावरण का निर्माण करने की कोशिश कर रहे हैं जिसे सुनिश्चित करने का आदेश आर.टी.ई. ने भी दिया है।'

इसी तरह से गरीब बच्चों के पोषण के बारे में सामान्यतया जो उपेक्षा देखने में आती है उसका प्रेरणादायक उपचार आई.सी.डी.एस. की एक कार्यकर्त्री के दृढ़ प्रयासों में प्रकट होता है जो बांग्लादेश की सीमा से लगे पश्चिम बंगाल में गरीबी से त्रस्त एक क्षेत्र में एक केन्द्र चलाती हैं। कई बाधाओं के बावजूद वे पूर्व–स्कूली बच्चों के लिए सार्वजनिक पोषण योजना को कारगर बनाने की कोशिश में लगी हुई हैं। उन्होंने बड़ी मेहनत करके बच्चों की माताओं के साथ विश्वास और सौहार्द का रिश्ता कायम किया है और उन्हें इस बात के लिए राजी

कर लिया है कि वे अपनी जमीन के छोटे से टुकड़े में उगाए गए फल और सब्जियों में से जितने फल और सब्जियाँ आँगनवाड़ी की रसोई में दे सकें उतने दें, जिससे सरकार द्वारा दी जाने वाली मामूली रकम की कमी पूरी हो सके। माताओं ने छोटे समूह बना लिए हैं और हर समूह के लिए एक दिन नियत कर दिया गया है; उस दिन ये समूह बारी–बारी से फल और सब्जियाँ केन्द्र में ले जाते हैं। यह कार्यकर्त्री इस बात का ध्यान रखती हैं कि पहले से ही गरीब इन परिवारों पर अनुचित दबाव न पड़े। फिर भी गरीबी से त्रस्त क्षेत्र में तंगहाल जीवन बिताने वाले इन निवासियों ने उनके प्रस्ताव की सराहना की है और बड़ी उदार अनुक्रिया दिखाई है। नतीजतन, इस केन्द्र के संचालन में काफी सुधार आया है। उनके सामूहिक प्रयास ने जिलाधिकारी का ध्यान आकर्षित किया जिन्होंने न केवल जिले के अन्य आई. सी.डी.एस. केन्द्रों को इस प्रयोग से सीखने के लिए प्रोत्साहित किया वरन यह आदेश भी दिया (शायद इस जन समर्थन की मात्रा में तेजी से हुई सहज वृद्धि की प्रशंसा में) कि जिले के प्रत्येक आँगनवाड़ी केन्द्र के लिए सरकारी राशि की मात्रा में बढ़ोतरी की जाए।

ये छोटे–छोटे विवरण हमारे लिए यह समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं कि बड़ी योजनाएँ और वृहद–संरचनाएँ क्यों सफल या असफल होती हैं। ये हमें बताते हैं कि कैसे कोई स्कूल–शिक्षक या कोई स्वास्थ्य कार्यकर्ता, साधारण रोजमर्रा के तरीके से बहुत कष्ट उठाकर, सार्वजनिक संस्था के कलपुर्जों में तेल डालने के लिए संघर्ष करता है ताकि बच्चे 'अच्छी' आदतें सीख सकें। एक प्रतिभागी ने बताया कि, 'हम कई चीजों का इस्तेमाल करते हैं – जैसे स्वस्थ आहार की आदतों पर कविताओं और अखबार की कतरनों का। कचरे के डिब्बे के रूप में काम में लाने के लिए स्थानीय फार्मेसी से एकत्र किए गए थर्मोकोल इंसुलिन डिब्बों का – जिससे कि विद्यार्थियों में अच्छी आदतें विकसित हों। उन्हें बार–बार बताना पड़ता है। दोहराना और पुनरावृत्ति करना ऐसे साधन हैं जिनका उपयोग करके हम उन्हें सोचने और समझने के लिए प्रेरित करते हैं'।

### साहचर्यात्मक शक्ति का प्रयोग करना

ये विशिष्ट उदाहरण एक से नहीं हैं; उनके विवरण में भिन्नता होती है लेकिन मूलभूत सार्वजनिक जीवन्तता में नहीं। फिर भी विरक्त, निष्ठाहीन या भ्रष्ट सार्वजनिक अधिकारियों और पदाधिकारियों की छवि सार्वजनिक निगाहों का ध्यान जल्द खींचती है और किसी गाँव के स्कूल के अध्यापक या किसी ASHA कर्मी का चित्र उपेक्षित ही रह जाता है। हालाँकि वे इसी प्रयास में लगे रहते हैं कि सार्वजनिक संस्थाएँ बेहतर कार्य करें और साथ ही बड़े पैमाने पर जनता को प्रोत्साहित करते रहते हैं कि वे इन संस्थाओं के प्रदर्शन को बेहतर करने के लिए 'शिक्षित हों, प्रेरित हों और संगठित हों।'

मिल–जुलकर कार्य करने की यह UBUNTU शैली, ('मैं हूँ क्योंकि हम हैं') स्वयं को बड़ा दिखाने के तरीके से सार्वजनिक कार्यवाही को सरकारी कार्यवाही और हमारे निजी विकल्पों से अलग करती है। इसमें कोई शक नहीं कि सार्वजनिक संस्थानों में अकसर कमियाँ होती हैं। उन्हें ठीक करना जरूरी है, यह नहीं कि हम उन्हें त्याग दें, क्योंकि हर सार्वजनिक कमी के लिए निजी (प्राइवेट) समाधान नहीं मिल सकता। आखिर एक विशेष और निजी स्वास्थ्य सुविधा का उपयोग करने के लिए हमें कम से कम सार्वजनिक रूप से अनुरक्षित एक ऐसी सड़क की जरूरत तो होगी ही जो हर मौसम में ठीक रहे! निस्सन्देह, कई बुनियादी सेवाओं को साझा करना जरूरी है बनिस्पत इसके कि हर व्यक्ति विशेष रूप से उसका प्रयोग करे। सीधे शब्दों में कहें तो सार्वजनिक वस्तुओं को सार्वजनिक रूप से प्रदान करना चाहिए और सार्वजनिक 'बुराइयों' को सामूहिक रूप से नियंत्रित करना चाहिए। साथ मिलकर समाधान खोजना अपने आप में एक संसाधन है। इससे लोग आपस में जुड़ते हैं, वे एक–दूसरे के लिए सीखते हैं और अपनी साहचर्यात्मक शक्ति का प्रयोग करते हैं।

हो सकता है कि इस मुकाम पर सार्वजनिक मूल्यों के सामूहिक लक्ष्य के खिलाफ दो सन्देह सामने आएँ : क्या हम ऐसी पहलों को बड़े पैमाने पर कर सकते हैं? और क्या हम उन्हें 'सम्भव के मापदण्डों' के भीतर रख सकते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर न तो स्पष्ट हैं और न ही सरल, लेकिन वे अकल्पनीय भी नहीं हैं। पहले सन्देह के उत्तर में कार्यशाला में हुई चर्चा से यह स्पष्ट हो गया कि 'साधारण या जमीनी स्तर' के सरकारी पदाधिकारियों में यह क्षमता है कि वे अपने साहस को कमतर समझे बिना मौजूदा दायरे के बाहर जाकर कल्पना कर सकें। एक प्रधानाध्यापक ने शौचालय का उपयोग करने के मुद्दे पर सकारात्मक और व्यावहारिक रूप से यह विचार व्यक्त किया, 'सीमित बुनियादी संरचनाओं और अन्य संसाधनों के बावजूद हमें इन तात्कालिक सामाजिक

मुद्दों का हल ढूँढ़ना है। अगर हम यह सोचें कि जब सब कुछ सही हो जाएगा तभी इनका समाधान ढूँढ़ेंगे तो कभी कुछ नहीं होगा।' इस तरह का व्यावहारिक और वास्तविक दृष्टिकोण हो तो कार्य अवश्य सम्भव होगा।

दूसरा सन्देह यह है कि आशाजनक प्रयास स्थानीय/सीमित और न दुहराए जाने वाले होते हैं। इसके उत्तर में हमें मार्गरेट मीड के गहन अनुबोधक शब्द याद आते हैं, 'इस बात पर कभी सन्देह न करें कि एक छोटा–सा समूह दुनिया बदल सकता है। वाकई यही एकमात्र ऐसी चीज है जिसने ऐसा किया है।' यहाँ जिन लोगों के विचार दर्ज किए गए हैं वे अपने कार्यक्षेत्र में हर रोज सक्रियतावाद के बीज बोते हैं और उसे कायम रखते हैं ताकि दूसरों के जीवन में बदलाव आ सके। यह एक ऐसी चीज की वृद्धि है जिसे एडम स्मिथ ने 'सामाजिक जुनून' कहा है : अर्थात साझा कठिन परिस्थितियों से निपटने के लिए सामूहिक प्रयासों को बढ़ाना और उन्हें मजबूत करना।

**मानबी मजूमदार** और **कुमार राणा** प्रतीचि संस्थान, कलकत्ता से सम्बद्ध हैं। मजूमदार सेण्टर फॉर स्टडीज इन सोशल साइंसेज, कलकत्ता में पढ़ाती भी हैं। उन्हें शिक्षा की राजनीति, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्थानीय लोकतांत्रिक राजनीति से सम्बन्धित मुद्दों के शोध में रुचि है। राणा को मानव क्षमता के क्षेत्रों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य व पोषण के साथ–साथ गाँव के अध्ययन और अधिकारहीनता के अध्ययन के शोध में रुचि है। उनके निबन्ध, कहानियाँ और सार्वजनिक टिप्पणियाँ नियमित रूप से छपती रहती हैं। मानबी से manabimajumdar@gmail.com पर और कुमार से k.rana7@ gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

खण्ड ख

# कार्यक्षेत्र से

# शिक्षा के साथ रोमांस

शरद चन्द्र बेहार

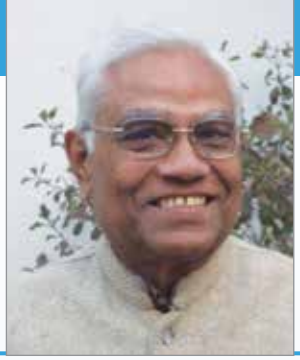

मुझे प्रेम है अधिगम से। अधिगम या सीखना शिक्षा का हृदय है, उसकी आत्मा है। यही कारण है कि मैं जीवन भर शिक्षा से प्रेम करता रहा – फिर चाहे वह शिक्षा औपचारिक हो, गैर–औपचारिक हो और या फिर अनौपचारिक। चलिए, मैं आपको शिक्षा के साथ अपने प्रेम–संसार की छोटी–सी झलक दिखाता हूँ जो चुनौतियों से भरपूर होते हुए भी बेहद सन्तोषप्रद है। यह यात्रा कभी–कभी तो बहुत निराशाजनक होती थी, इतनी कि लगता था मानो इसका कोई अन्त ही नहीं है, कोई इलाज नहीं है। लेकिन जब बादल छँटते तो आशा और उत्साह का सूरज ऐसी उज्जवल आभा लेकर आता जैसी दोपहर के सूरज में होती है। अपने सहपाठियों, जूनियर और सीनियर साथियों के अधिगम को सुगमीकृत करने का सिलसिला तीसरी कक्षा से शुरू हुआ और जब तक मैं विद्यार्थी रहा तब तक यह सिलसिला चलता रहा। उसमें खुशियों और निराशाओं से भरे जो दिलचस्प अनुभव मुझे हुए, उनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं कर रहा।

लेकिन इस अवधि में हुए उन दो अनुभवों का जिक्र करना चाहूँगा जब मैंने औपचारिक रूप से शिक्षक की भूमिका निभाई। 1954–55 में जब मैं कक्षा XI का विद्यार्थी था तब सरकारी हाईस्कूल में वार्षिक स्वशासन दिवस मनाया गया। विद्यालय संसद का मुख्यमंत्री होने के नाते मुझे एक दिन के लिए प्रधानाध्यापक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस दिन मैंने आठवीं कक्षा को अँग्रेजी पढ़ाई। आत्म–मूल्यांकन के द्वारा एक उत्कृष्ट शिक्षक की सन्तोषजनक भूमिका निभाने से जो प्रसन्नता मुझे मिली वह एक दिन के लिए प्रधानाध्यापक बनने के गौरव से कहीं अधिक थी।

औपचारिक शिक्षा के साथ इस अस्थायी प्रेम के बाद मेरा ज्यादा लम्बा चक्कर विद्यालय शिक्षक के रूप में चला। 1957–59 के दौरान, एक स्नातक कोर्स के विद्यार्थी के रूप में मैंने अपने ही हिस्लप कॉलेज में रात को चलने वाले स्कूल में अँग्रेजी पढ़ाने की पेशकश की, इसकी प्रेरणा शायद मुझे इस बात से मिली कि मैंने विद्यालय में वार्षिक स्वशासन दिवस को आठवीं कक्षा को अँग्रेजी पढ़ाई थी और उस अनुभव से मुझे परम आनन्द प्राप्त हुआ था। सरकारी सहायता प्राप्त लेकिन निजी तौर पर प्रबन्धित हिस्लप कॉलेज नागपुर द्वारा रात को चलाया जाने वाला विद्यालय ड्रॉप–आउट विद्यार्थियों के लिए था। उनमें से ज्यादातर विद्यार्थी शहर या शहर के आसपास की कपास मिलों या अन्य उद्योगों में काम करने वाले किशोर और वयस्क श्रमिक थे। मैंने नवीं और दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों के साथ शिक्षण–अधिगम का बड़ा आनन्द लिया और अपने को एक अच्छा शिक्षक समझने की आत्म–छवि भी प्रबलित हुई। तब मुझे न तो शिक्षा के क्षेत्र में मौजूद असमानता की समझ थी और न ही इस बात की समझ थी कि कठोर औपचारिक विद्यालय प्रणाली सामाजिक व आर्थिक रूप से वंचित लोगों के लिए कितनी अनुपयुक्त थी। लेकिन इस बात को लेकर मन में बहुत बेचैनी और गहरी चिन्ता अवश्य थी कि कहीं आगे चलकर भी इन लोगों को शिक्षा सम्बन्धी अभावों का सामना तो नहीं करना पड़ेगा जिसे अब तक ये लोग झेलते आ रहे थे।

रात को चलने वाले इस स्कूल के अधिकांश विद्यार्थी मराठी भाषा भाषी थे। मराठी भाषा में सक्षम होने की बात तो छोड़िए, मुझे तो मराठी बिल्कुल नहीं आती थी। ऐसी स्थिति में मैंने मराठी भाषा का प्रयोग किए बिना एक अन्य भाषा, तिस पर एक विदेशी भाषा, के अध्यापन के तरीकों के बारे बहुत कुछ ऐसा सीखा जिससे विद्यार्थियों को केवल पाठ्यपुस्तकों के अध्यायों की सामग्री में ही नहीं अपितु अँग्रेजी भाषा में भी प्रवीणता हासिल हो सके। इस चुनौती के साथ में शिक्षक और शिक्षार्थियों दोनों की निराशाएँ भी थीं, लेकिन ये कमी उस यूरेका पल से तब पूरी हो जाती थी जब मैं उनकी आँखों में उपलब्धि की चमक देखता और चेहरे के हावभाव यह दर्शाते कि वे भी उस उपलब्धि से प्रसन्न हैं। क्षण भर की यह खुशी पहले किए गए कई प्रयासों की विफलता की निराशा को दूर करने और मेरी रचनात्मकता (जो शायद मुझमें थोड़ी–बहुत थी) को अधिकाधिक बढ़ाने के लिए पर्याप्त थी।

स्वैच्छिक रूप से एक विद्यालय का शिक्षक बनने से लगाकर मध्यप्रदेश के सिहोरा उप–संभाग (जिसमें जबलपुर जिले के चार सामुदायिक विकास खण्ड निहित थे) में एक प्रबन्धक, प्रशासक और ग्रामीण क्षेत्र के लगभग 500 विद्यालयों के मुखिया के रूप में काम करने का कारण यह था कि मैं 1961 में भारतीय प्रशासनिक सेवा में शामिल हो गया और 1963 में एस.डी.एम. के पद पर नियुक्त किया गया (1965 तक इस पद पर रहा)। यह वह समय था जब विद्यालय शिक्षा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण प्रणाली का एक घटक थी जिसमें जनपद सभा, जो उप–संभागीय स्तर पर एक निर्वाचित निकाय थी, के पास विकास के लगभग सभी क्षेत्रों में काफी व्यापक शक्तियाँ और कार्य थे। एस.डी.एम. होने के नाते, कानूनन मैं उसका मुख्य कार्यकारी अधिकारी भी था। अतः मुझे प्रशासन के जमीनी स्तर पर विद्यालय शिक्षा के लिए कार्य करने और उसका अनुभव करने का उल्लेखनीय अवसर मिला।

राज्य की जिस नीति को मुझे लागू करना था उसमें न तो साम्यता के जटिल मुद्दों को लेकर कोई सरोकार था और न ही सबके नामांकन, उपस्थिति और भागीदारी के बारे में कोई चिन्ता। स्याही के सूखते ही शायद संविधान के अनुच्छेद 46 को भुला दिया गया था। मैंने भी बेध्यानी से वंचित लोगों की चिन्ता किए बिना केवल उन लोगों की शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के लिए ही कार्य किया जो विद्यालय में थे। पीछे मुड़कर देखने पर मुझे यह बात बहुत शर्मनाक लगती है क्योंकि इसका मतलब तो यह हुआ कि मैंने रात में चलने वाले स्कूल में शिक्षा के क्षेत्र में असामनता का जो पाठ पढ़ा था उसे मैं पूरी तरह से आत्मसात नहीं कर पाया था। यह विडम्बना ही तो है कि उस समय सरकार के उच्च पदों पर जो लोग थे उनमें से अधिकांश स्वतंत्रता सेनानी थे और समाज के शक्तिशाली और मुखर वर्गों की माँग तथा एजेण्डा के द्वारा ही भिन्न–भिन्न मात्रा में आदर्शवाद चालित किया जा रहा था। लेकिन फिर भी गाँधी जी के इस मंत्र को पूरी तरह से भुला दिया गया था कि सर्वाधिक वंचित वर्ग की आँखों से आँसू पोंछने पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

मैं यह देखकर बहुत उत्साहित हुआ कि जनपद के अध्यक्ष और शिक्षा समिति के अध्यक्ष भी शिक्षा में गहरी रुचि रखते थे। मुझे उम्मीद थी कि उनके समर्थन से मैं चमत्कार कर दिखाऊँगा। लेकिन मुझे जल्द ही पता चल गया कि उनकी रुचि सतही थी या यूँ कहूँ कि अध्यापकों के स्थानान्तरण तक ही सीमित थी। हालाँकि इसके पीछे की गतिविधियों को समझने में मुझे काफी वक्त लगा। धीरे–धीरे मुझे राजनीतिक शक्ति और शिक्षक का महत्त्व समझ में आने लगा और उनकी सीमित रुचि की बात भी समझ में आई, लेकिन इसी बात ने मेरा काम भी आसान कर दिया। मैंने खुद को अध्यापकों के स्थानान्तरण के मामलों से दूर रखा और गुणवत्ता में सुधार लाने पर ध्यान केन्द्रित किया और मैं मानता हूँ कि यह बात आज की तुलना में तब बहुत सन्तोषजनक थी। विद्यालय में सांस्कृतिक और खेलकूद सम्बन्धी जीवन्त कार्यकलाप हुआ करते थे जिनमें मुझे भी बहुत रुचि थी। अतः मैंने इनके लिए आवश्यक थोड़ी–सी वित्तीय सहायता और अन्य प्रकार की सहायता के साथ विभिन्न विद्यालयों में इन कार्यकलापों को प्रोत्साहित किया। आज जब इसके बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि चूँकि उन दिनों में न तो टी.वी. था और न ही फिल्मों की इतनी गहरी पैठ थी, इसलिए कला व संस्कृति के लोक रूप पाठ्य सहगामी क्रियाकलापों के साथ बड़ी आसानी और सुचारु रूप से घुल–मिल गए और बेहद लोकप्रिय भी हुए।

राजनीति में अध्यापकों की अद्वितीय और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका को शिक्षा में तथाकथित मिशनरी उत्साह के साथ शामिल लोगों की बनिस्पत राजनीतिज्ञ ज्यादा बेहतर तरीके से समझते हैं और मान्यता देते हैं। किसी सुधार या दखल के डिजाइन और उसकी शुरुआत करने में इस बात की उपेक्षा करने का मतलब है कि उस दखल का डी.एन.ए. दोषपूर्ण है। यह सीख मेरे बाद के कैरियर में बहुत उपयोगी रही, लेकिन मैं यह दावा नहीं कर सकता कि प्रधान शिक्षा सचिव के रूप में या एकलव्य के संस्थापक निदेशक के रूप में किए गए नवाचारों में मैं इन बातों का सामना सफलतापूर्वक कर पाया।

शिक्षा के क्षेत्र में मेरी असामान्य रुचि के दो अप्रत्याशित प्रतिकूल परिणाम थे। मैं यह नहीं जान पाया कि रूढ़िवादी प्रशासन के लिए शिक्षा के क्षेत्र में कितना भी उत्कृष्ट कार्य क्यों न किया जाए, वह बेकार ही होता है क्योंकि इसमें फोकस कट्टर प्रशासनिक ढाँचे पर होना चाहिए। मैं अपने बॉस जिला मजिस्ट्रेट श्री आर.एस. नायडू, का शुक्रगुजार हूँ कि मैं अपनी वार्षिक आकलन रिपोर्ट में एक प्रतिकूल टिप्पणी से बाल–बाल

बचा। श्री आर.एस.नायडू एक बेहद अनुभवी और समर्थ अधिकारी थे और उन्हें मुझसे बहुत स्नेह और लगाव था। मेरे आत्म–मूल्यांकन की रिपोर्ट और शिक्षा के क्षेत्र में मेरी उपलब्धियों को देखते हुए उन्होंने केवल मौखिक रूप से मुझे चेतावनी दी और मुझे एक सही प्रशासनिक लेंस प्रदान किया – प्राथमिकता और ध्यान केन्द्रण को निर्धारित करने के लिए मापदण्ड।

उन दिनों जब सब–डिवीजनल मजिस्ट्रेट जैसे अधिकारी समाचार पत्रों में समाचार का विषय नहीं बने थे, तब पहली बार मेरा इस अद्वितीय गौरव से सम्मानित होना अत्यधिक प्रतिकूल बात थी। समाचार में बताया गया था कि मेरे गुस्से, अनियंत्रित रूप से डाँटने–फटकारने और व्यवहार की वजह से जनपद सभा के अधीक्षक को दिल का दौरा पड़ा था। अपने जानने वालों में आमतौर पर मेरी छवि एक अत्यन्त कोमल, सौम्य, दयालु और सहिष्णु व्यक्ति की थी और चूँकि समाचार पत्र में दर्शाई गई छवि इसके एकदम विपरीत थी, अतः लोगों को समझाना बहुत कठिन था, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि यह घटना अतिशयोक्तिपूर्ण किन्तु सच्ची थी।

वार्षिक टूर्नामेंट के लिए विभिन्न विद्यालयों से विद्यार्थी आए हुए थे। उद्घाटन की पिछली रात को लगभग साढ़े नौ बजे छात्रावास में मैं खुद यह देखने गया कि अधीक्षक और उनकी टीम ने सारे प्रबन्ध ठीक से कर दिए हैं या नहीं। शायद ऐसा करना एस.डी.एम. और सी.ई.ओ. के लिए एक अपरम्परागत और अप्रत्याशित बात थी। वहाँ मैं यह देखकर हैरान रह गया कि जो विद्यार्थी उप–सम्भाग के विभिन्न भागों से उन दिनों की खराब सड़कों पर बहुत लम्बी और कठिन यात्रा करके आए थे, उन्हें भोजन नहीं दिया गया था क्योंकि खाना अभी पक रहा था, लेकिन अधीक्षक महोदय अपनी टीम के साथ मजे लेकर ऐसा शानदार नाश्ता कर रहे थे जिसे फैशनेबल भाषा में हाई टी कहा जाता है। मैं मानता हूँ कि इस नृशंस व्यवहार को देखकर मैं पूरी तरह से अपना आपा खो बैठा। मैं बड़ी ऊँची आवाज में चिल्लाने लगा और अपने गुस्से को बड़ी अच्छी तरह या यूँ कहूँ कि बड़ी बुरी तरह से व्यक्त करने लगा। वे स्पष्टीकरण देने की कोशिश करते तो मेरा पारा और चढ़ जाता क्योंकि मुझे पूरा यकीन था कि जो कुछ मेरी नजरों के सामने हो रहा था उसके लिए कोई भी स्पष्टीकरण विचारणीय या स्वीकार्य नहीं हो सकता था। कुछ ही मिनटों में उन्होंने दिल की धड़कनों के बढ़ने की शिकायत की और कमरे से बाहर चले गए। बच्चों के लिए जल्द से जल्द भोजन की व्यवस्था करने का जिम्मा अब मेरे ऊपर था।

मैं अपनी युवावस्था (तब मेरी उम्र सिर्फ 23 साल की थी) या अनुभवहीनता को दोष नहीं देता। दरअसल मैं भूखे बच्चों को देखकर परेशान हो गया था। मुझे उनसे इतनी संवेदना हो रही थी कि मुझे वे बुजुर्ग अधीक्षक किसी राक्षस का अवतार लग रहे थे और मैं यह कल्पना ही नहीं कर पाया कि उन पर मेरे गुस्से का क्या प्रभाव पड़ सकता है या उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी। अब मुझे लगता है कि शायद एक अनुभवी डिप्टी कलेक्टर इन स्थितियों से बेहतर तरीके से निपटता। इसका फैसला मैं आप पर छोड़ता हूँ। नौकरशाही के साथ मेरा यह पहला सम्पर्क बहुत विक्षुब्ध करने वाला था।

जून 1966 में मेरी नियुक्ति सीधी के जिला मजिस्ट्रेट के रूप हुई जहाँ मैं 1968 तक रहा। यह जिला पिछले दो वर्षों से तीव्र सूखे की चपेट में था और दुर्भाग्य से उस वर्ष भी मानसून की विफलता के कारण लगातार तीसरे वर्ष भी सूखे से संघर्ष जारी रहा। वहाँ हुए अनुभव (इसका विस्तृत ब्यौरा रमेश अरोड़ा और सी.के. सलदाना द्वारा सम्पादित पुस्तक 'District Collectors, Recollect' में उपलब्ध है) के आधार पर मैं यह दावा कर सकता हूँ कि खाद्यान्न की बहुत कम आपूर्ति होते हुए भी मैंने सूखे की स्थिति का प्रबन्धन दक्षता के साथ किया। फिर भी शिक्षा का आकर्षण इतना तीव्र था कि सूखे के प्रबन्धन की भारी व्यस्तता के बावजूद मैंने बड़े जोर–शोर से शिक्षा के क्षेत्र में हाथ डाला।

यह एक आदिवासी बहुल जिला था। आदिवासी क्षेत्र में यात्रा करते समय मैंने यह तय कर लिया था कि वहाँ के विद्यालयों का दौरा करूँगा। मुझे जल्द ही पता चल गया कि उन प्राथमिक विद्यालयों की शिक्षा की गुणवत्ता कितनी दयनीय है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वहाँ गुणवत्ता नाम की कोई चीज थी ही नहीं। कक्षा पाँच के विद्यार्थी न तो पढ़ सकते थे और न ही लिख पाते थे। इस बात के लिए शिक्षक अपने पूर्ववर्तियों को दोष देते। सिहोरा के विद्यालयों की गुणवत्ता के विपरीत इन विद्यालयों में शिक्षा की खराब गुणवत्ता ने बड़ी नाटकीयता के साथ उपेक्षित क्षेत्रीय असमानता को उजागर किया। मैंने उन दिनों के शिक्षा प्रमुख अर्थात लोक शिक्षण के निदेशक को इस क्षेत्र में विशेष ध्यान देने और सुधारात्मक कदम उठाने के लिए पत्र लिखा।

लेकिन मुझे निराश होना पड़ा क्योंकि पत्र का कोई जवाब नहीं आया। अफसोस की बात यह थी कि सूखे की स्थिति से निपटने में पूरी तरह से व्यस्त होने के कारण मुझे अपने प्रयासों को आगे बढ़ाने का समय नहीं मिल पाया।

शिक्षा के क्षेत्र में एक अन्य दखल का सोपानी प्रभाव पड़ा। इसकी कहानी लम्बी है। इसमें मुझे अकल्पनीय झटकों और आश्चर्यों का सामना करना पड़ा। मैं इस कहानी को यथासम्भव संक्षेप में कहूँगा। सीधी और पड़ोसी जिले परीक्षाओं के दौरान सामूहिक रूप से होने वाली नकल के लिए कुख्यात थे। मैंने साफ–सुथरे ढंग से परीक्षाओं के संचालन को सुनिश्चित करने का फैसला किया। जिले के मुख्यालय में माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की परीक्षाओं में मैंने ऐसा करने में कुछ सफलता भी पाई थी। लेकिन विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में ऐसा करना लोहे के चने चबाने जैसा था। जिले में सिर्फ एक कॉलेज था। मैंने सागर विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार को सामूहिक नकल के बारे में लिखा और कुछ ऐसे उपाय भी सुझाए जिनकी सहायता से परीक्षाओं का संचालन निष्पक्ष तरीके से किया जा सके। जवाब में उनकी तरफ से निराशाजनक चुप्पी ही मिली। कुछ समय के बाद मेरे सुझाव के अनुसार कार्य करने की बजाय उन्होंने बस एक चिट्ठी भेज दी जिसमें मुझे परीक्षा केन्द्र का निरीक्षण करने का प्राधिकार दिया गया था। उन दिनों यह बात कल्पनातीत थी कि कोई जिला मजिस्ट्रेट परीक्षा के मामलों में कोई भूमिका निभाए। मैं अकाल के कार्यों में जरूरत से ज्यादा व्यस्त था और मैं व्यक्तिगत रूप से इस कार्य में शामिल होने का इच्छुक नहीं था। मुझे उम्मीद थी कि वे लोग मेरे सुझावों पर अमल करेंगे और अगर उन्हें किसी चीज की आवश्यकता हुई तो प्रशासन उनकी मदद करेगा। इस पहल को शुरू करने के बाद मैं पीछे हटना नहीं चाहता था क्योंकि मैं परीक्षाओं के न्यायोचित संचालन को सुनिश्चित करने के लिए बहुत उत्सुक था।

परीक्षा के सबसे व्यस्त दिन मैं अचानक निरीक्षण के लिए जा पहुँचा। वहाँ का नजारा देखकर मैं हैरान रह गया। खुले आम नकल की जा रही थी। लगभग हर विद्यार्थी ने मेज पर कुछ किताबें रखी हुई थीं और पास में रखे उनके बैग में भी किताबें थीं। जिस बड़े पैमाने पर धड़ल्ले के साथ नकल चल रही थी वह मेरी कल्पना से परे थी। मैंने सारी सामग्री जब्त कर ली। फिर 8'x4'और 3 फीट ऊँचे बक्से में सारा सामान भरवाकर रजिस्ट्रार को भेजा और अपनी रिपोर्ट में व्यंग्य करते हुए यह सुझाव दिया कि विश्वविद्यालय के पुस्तकालय को भरने के लिए सामूहिक नकल प्रथा का लाभ लिया जा सकता है।

एक बार फिर, लम्बे समय तक मुझे विश्वविद्यालय द्वारा की जाने वाली कार्रवाई या प्रस्तावित कार्रवाई के बारे में कोई सूचना नहीं मिली। मैं सोचने लगा कि क्या विद्यालय और उच्च शिक्षा दोनों ही स्तरों पर शैक्षिक नौकरशाही इतनी अक्षम है? सामूहिक रूप से होने वाली नकल का वह नजारा एक ऐसा बुरा सपना था जो मुझे बराबर सताता रहा। इसलिए अपनी सारी व्यस्तताओं के बावजूद, परीक्षा का निष्पक्ष संचालन मेरा मिशन बन गया। अपने इस कार्य में मैंने सभी हितधारकों के साथ बातचीत करने की रणनीति को अपनाने का फैसला किया। तदनुसार मैं कॉलेज गया और विद्यार्थियों से भेंट करके उनसे अपील की कि वे नकल करना छोड़ दें क्योंकि उसमें उनका ही हित है क्योंकि अच्छी तरह से पढ़कर वास्तविक उपलब्धि के आधार पर अंक और प्रमाणपत्र प्राप्त करने से उन्हें अपने कैरियर और जीवन में एक सुदृढ़ स्थान मिलेगा। लेकिन जिस निर्लज्जता से उन्होंने अपनी आर्थिक हालत और अन्य चतुराई से भरे तर्क देकर नकल के समर्थन में मजबूत और निश्चयात्मक रूप से दलीलें दीं, उन्हें देखकर मैं भौंचक्का रह गया क्योंकि यह सब मेरी कल्पना से परे था। फिर माता–पिता के साथ एक बैठक हुई लेकिन विद्यार्थियों ने उन्हें वहाँ से भगाकर उसे भी निष्फल कर दिया। अध्यापकों ने भी विद्यार्थियों से होने वाले खतरे के मद्देनजर अपनी लाचारी व्यक्त की। मैंने उन्हें पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया लेकिन वे संतुष्ट नहीं हुए। उनका तर्क यह था कि यह सुरक्षा उन्हें जीवन भर के लिए थोड़ी न मिलेगी क्योंकि जैसे ही सुरक्षा हटेगी वैसे ही उन पर आघात होगा। इस बात के समर्थन में उन्होंने ऐसे प्रोफेसरों के उदाहरण दिए जिन पर काफी समय के अन्तराल के बाद हमला किया गया था।

जब बातचीत की रणनीति नाकाम हो गई और मैं वैकल्पिक रणनीतियों की योजना बना रहा था तो अचानक एक चौंका देने वाली बात हुई। विश्वविद्यालय की चुप्पी और निष्क्रियता टूटी और उन्होंने यह निर्णय लिया कि जिले के परीक्षा केन्द्र को बन्द करके पड़ोस

के रीवा को केन्द्र बनाया जाए मानो कि जैसे वहाँ सामूहिक नकल होती ही नहीं थी, जबकि यह मानी हुई बात थी कि सभी पड़ोसी जिले इस बीमारी से समान रूप से ग्रसित थे।

इस निर्णय के कारण विद्यार्थी आन्दोलन शुरू हो गया और शहर का जीवन मानो ठहर–सा गया। अपने कैरियर में पहली और एकमात्र बार मुझे पुलिस बल का प्रयोग करना पड़ा और शहर में कर्फ्यू लगा दिया गया। ऐसे संघर्ष का अनुभव इस शहर ने पहले नहीं किया था। विद्यार्थियों ने रोगियों के जीवन के लिए आवश्यक ऑक्सीजन सिलेण्डरों को अस्पताल ले जाने वाले रास्तों तक को बन्द कर दिया। अन्ततः एक लचीली और आमने–सामने की बातचीत, सहायतापूर्ण मध्यस्थता और पुलिस बल की रणनीति अपनाई गई और दस दिनों बाद यह आन्दोलन समाप्त हो गया। जिन लोगों को सीमित पुलिस बल और सीमित संसाधनों की मदद से एक छोटे से शहर की कानून और व्यवस्था की स्थिति से निपटने का अनुभव न हो, वे उस कार्य की कठिनाई की कल्पना तक नहीं कर सकते। अधिकांश रातें अगले दिन की रणनीतियाँ बनाने में निकल जातीं और दिन सक्रिय गतिविधियों से भरपूर होते। यह सब समाप्त होने तक हममें से जो लोग इस कार्य में प्रत्यक्ष रूप से शामिल थे, वे पूरी तरह से थक चुके थे।

मुझे इससे पहले इतना गुस्सा कभी नहीं आया था, इतनी निराशा कभी नहीं हुई थी जितनी तब हुई जब आन्दोलन की समाप्ति के बाद मुझे विश्वविद्यालय से एक पत्र मिला। इसमें यह बताया गया था कि जिस दिन आन्दोलन शुरू हुआ उसी दिन विश्वविद्यालय की कार्यकारी समिति ने यह निर्णय लिया था कि सीधी में परीक्षा केन्द्र को बन्द करने के फैसले को संशोधित करके उसे फिर से बहाल किया जाए। क्या विश्वविद्यालय नौकरशाही की यह लापरवाही क्षमा के योग्य थी, खासकर तब जब वे उस आन्दोलन की बिगड़ती हालत के बारे में पूरी तरह से जानते थे जो एक बड़ी खबर बन चुकी थी? यदि यह सूचना हमें टेलीफोन पर तुरन्त दे दी जाती तो आन्दोलन पहले ही दिन समाप्त हो जाता। विश्वविद्यालय नौकरशाही की इस अक्षम्य और घोर असंवेदनशीलता के कारण कानून और व्यवस्था से निपटने वाली पूरी टीम, विद्यार्थियों और पूरे शहर को इस असाधारण (उनके लिए) मानसिक तनाव और कठिनाई का सामना करना पड़ा।

अन्त में, मैं आपके साथ एक तथ्य और एक रहस्य बाँटना चाहता हूँ। तथ्य यह है कि सामूहिक नकल के बारे में ठोस सबूत होते हुए भी विश्वविद्यालय के इस प्रकार के निर्णय ने विद्यार्थी वर्ग के असामाजिक तत्वों का हौसला बढ़ाया, जिन्होंने अगली परीक्षा में (मैं तब तक एक अन्य जिले में चला गया था) उस इमारत को आग लगा दी जहाँ प्रश्न पत्रों को सुरक्षित रखा गया था और इस कृत्य ने कानून और व्यवस्था की एक नई समस्या को जन्म दिया जिसका निपटान मेरे उत्तराधिकारी को करना पड़ा।

रहस्य यह है कि मेरी पहल और सामूहिक नकल की प्रथा पर अंकुश लगाने के कारण उस जिले से मेरा तबादला कर दिया गया। यह पता चला कि जिले के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक नेता इस प्रथा को जारी रखने के पक्ष में थे।

लेकिन मुझे कोई पछतावा नहीं : ये सारे अनुभव शिक्षा के साथ अपने रोमांस को जारी रखने में अत्यन्त उपयोगी रहे।

**एस.सी. बेहार** अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के निदेशक मण्डल के सदस्य हैं। वे मध्य प्रदेश सरकार के पूर्व मुख्य सचिव हैं। उनका शिक्षा के क्षेत्र के साथ करीबी सम्बन्ध है। शिक्षा, लोक प्रशासन तथा सामाजिक सरोकार के अन्य मुद्दों पर उनके 150 से अधिक पेपर प्रकाशित हो चुके हैं। वे एकलव्य के संस्थापक निदेशक रहे हैं जो शैक्षिक अनुसंधान और नवाचारों के लिए एक स्वैच्छिक संगठन है, साथ ही वे गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति भी हैं। सेवानिवृत्ति के पश्चात वे माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान कर चुके हैं। उनसे behar@azimpremjifoundation.org अथवा sharadbehar@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# जमीनी स्तर से अवलोकन

एस. गिरिधर

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के साथ अपने कार्य के दौरान मैंने तकरीबन हर उस ब्लॉक का दौरा किया जहाँ के सरकारी स्कूलों के साथ फाउण्डेशन कार्यरत था जैसे बनासकांठा, गुजरात में डीसा, उत्तरकाशी, उत्तराखण्ड में मोरी या सिरोही, राजस्थान में पिण्डवाड़ा। तो जब लर्निंग कर्व की सम्पादिका ने सार्वजनिक शिक्षा के इस विशेष अंक के लिए एक लेख लिखने को कहा तो मैंने सोचा कि उनके आदेश का पालन करने का बेहतरीन तरीका यह होगा कि मैं उन सारी बातों को याद करके लिख डालूँ जो मैंने वहाँ जमीनी स्तर पर देखी थीं। लेकिन मैं यह भी स्वीकारता हूँ कि ये स्मृतियाँ आपको क्रमबद्ध विवरण के रूप में नहीं मिल पाएँगी, यह तो उन स्कूलों का दौरा करते समय हुए अनुभव की यादों में डुबकी लगाने जैसा है और मैं आशा करता हूँ कि ज्यों–ज्यों मैं एक घटना से दूसरी घटना की ओर जाऊँगा त्यों–त्यों यह विवरण एक सार्थक कथा का रूप लेता जाएगा।

उत्तर–पूर्व कर्नाटक के एक छोटे से गाँव हनकनहल्ली में शिक्षक होने का क्या मतलब है? हूविनहदगली (इसका मोहक अर्थ है 'नाव में ले जाए जा रहे फूल') तालुक में एक छोटे–से कस्बे से भी कई मील दूर इस गाँव के सरकारी स्कूल में 54 विद्यार्थी हैं। इनमें से अधिकतर पहली पीढ़ी के शिक्षार्थी हैं और उनके माता–पिता आसपास के खेतों में दिहाड़ी मजदूर के रूप में काम करते हैं। स्कूल में दो शिक्षक, जिनमें से एक प्रधानाध्यापक की दोहरी भूमिका निभाता है। इस दूरस्थ बस्ती में ये दोनों अत्यन्त स्वायत्त शिक्षकों के समान हैं। यहाँ कभी–कभार एक बस गाँव के निकट से होकर गुजरती है। संकुल संसाधक तो इनके लिए आकस्मिक और दूर की बात है तथा खण्ड शिक्षा अधिकारी के लिए 3 साल में एक बार से ज्यादा इनके स्कूल का दौरा कर पाना असम्भव है। लेकिन ये दोनों शिक्षक रोजाना स्कूल आते हैं। बच्चे जल्दी ही स्कूल आ जाते हैं। स्कूल छोटा किन्तु साफ–सुथरा है। समय सारिणी वे खुद तय करते हैं। वैसे जिले ने उन्हें समय सारिणी दी है, कन्नड़ के लिए 40 मिनट फिर गणित के लिए 40 मिनट, फिर फलां–फलां विषय के लिए 40 मिनट आदि। लेकिन ये दोनों शिक्षक अपना कार्य जानते हैं और उसे वे नियमित रूप से करते जाते हैं। योजना बनाने और उसे क्रियान्वित करने के लिए पूरा दिन उनके पास होता है। इसलिए अगर किसी रोज कन्नड़ के लिए दो घण्टे का समय दिया जाए तो उसका कारण यह होता है कि वे राजा और उसके दरबार के बारे में एक नाटक कर रहे हैं। एक लड़की राजा की भूमिका निभा रही है। हर बच्चा स्कूल में हो, हर बच्चा सीखे – ऐसा कई बरसों से हो रहा है। शिक्षकगण सरल आत्माएँ हैं, वे इस बात से खुश हैं कि उनके विद्यार्थी नवोदय स्कूल की प्रवेश–परीक्षा में सफल हुए हैं।

दूर बहुत दूर, गुजरात के बनासकांठा में शिक्षकों के लिए कार्यशालाएँ आयोजित की गई हैं। इसमें उन्हें कुछ ऐसी अवधारणाओं से परिचित कराया जाएगा जिनकी सहायता से वे ऐसे रोचक प्रश्न पत्र बना सकें जो रटने की जाँच न करके अवधारणात्मक समझ का परीक्षण करें। लेकिन इस पूरे हफ्ते लगातार बारिश हो रही है। अधिकांश क्षेत्र जलमग्न है और जिस धर्मशाला में कार्यशाला का आयोजन किया गया है वहाँ कमर तक पानी भरा हुआ है। 'मास्टर ट्रेनर्स' कार्यशाला प्रारम्भ होने की पिछली रात को किसी तरह वहाँ आ पहुँचे हैं लेकिन उन्हें चिन्ता इस बात की है कि अगर इसी तरह बारिश होती रही और बाढ़ की सी स्थिति बनी रही तो क्या अगली सुबह शिक्षक आ पाएँगे? लेकिन अगले दिन नौ बजे बनासकांठा के 120 शिक्षकों का दल आ पहुँचा। पुरुष अपनी पैंट को घुटनों तक चढ़ाए हुए और महिलाएँ अपनी साड़ी को यथासम्भव ऊपर बाँधे हुए पानी तथा कीचड़ में से रास्ता बनाते हुए सही समय पर कार्यशाला में हाजिर हो गए। कार्यक्रम शुरू हो गया। अगर वे न भी आते तो क्या कोई उन्हें कुछ कहता? नहीं। लेकिन फिर भी वे आए। अगले तीन दिनों तक इन शिक्षकों ने कार्यशाला में सक्रिय रूप से भाग लिया। तर्क किया, एतराज जताया, विरोध किया और समझ गए कि यहाँ किस तरह के आकलन के बारे में चर्चा हो रही है। फिर वे कांकरेज और खेड़ब्रह्म के अपने–अपने स्कूलों

में वापस गए और जो कुछ सीखा था उसका उपयोग करने की कोशिश में लग गए – अपने स्कूल में, अपने बच्चों के साथ, अपने सीमित संसाधनों की सहायता से और जो कुछ सीखा था उसका प्रयोग करते हुए। ये शिक्षक आपकी और मेरी तरह साधारण लोग हैं लेकिन इन्होंने बहुत दिलेरी दिखलाई, अपार उत्साह दिखाया।

आइए, अब कर्नाटक के बेल्लारी जिले में चलें। 400 मीटर की दूरी पर स्थित दो स्कूल, दोनों जरा बड़े से गाँव के बच्चों की सेवा में लगे हुए (अब मुझसे यह मत पूछिएगा कि ये स्कूल इस तरह से क्यों बनाए गए)। एक स्कूल गन्दा और बेढंगा, जिसमें उदासीन–से एक प्रधानाध्यापक थे जिन्होंने अपने स्कूल परिसर की दीवार पर बने 10X6 के भित्ति चित्र को तक नहीं पढ़ा था जिसमें सार्वभौमिक शिक्षा के मन्त्र का उपदेश दिया गया था, हालाँकि वे हर सुबह उसी दीवार के पास अपनी मोटरसाइकिल खड़ी किया करते थे। दूसरा स्कूल, आकार में पहले स्कूल से आधे से भी छोटा, दो कमरे, सम्पन्न, जीवन्त, गतिविधियों से गुंजायमान; प्रधानाध्यापक और उनके सहयोगी शोर मचाते उत्सुक बच्चों के साथ व्यस्त। एक स्कूल को शैक्षिक वर्ष की शुरुआत में ही बच्चों की वर्दी और किताबें मिल गईं। दूसरे को इसके बारे में कुछ पता नहीं। वही गाँव, वही संकुल, वही खण्ड लेकिन 400 मीटर की दूरी पर दो अलग संसारों का कितना अकल्पित सा चित्र! लिंगप्पा और हनुमन्तप्पा के स्कूल के वे 50 बच्चे वाकई भाग्यशाली हैं पर दूसरे स्कूल के 120 बच्चों के दुर्भाग्य के बारे में क्या कहा जाए!

कुछ साल पहले एक और स्थान की यात्रा का अनुभव। यह वह कहानी है जो मैंने पहले भी सुनाई है लेकिन यहाँ उसे दोहराने में मुझे काफी खुशी हो रही है। सिरोही का दूरस्थ इलाका, जहाँ अभी भी एक सामन्ती प्रतिबन्धात्मक जीवन शैली का चलन है। ऐसे स्थान में हर महीने के एक रविवार को पारिवारिक विरोधों का सामना करके शिक्षिकाएँ स्वैच्छिक मंचों में भाग लेने के लिए आती हैं। अपनी मर्जी से, यात्रा के लिए अपने खुद के पैसे खर्च करके; अपने पेशेवर विकास और सीखने की प्रबल इच्छा लिए, रविवार की छुट्टी का त्याग करके – वह छुट्टी – महिलाओं के लिए जिसकी अनमोलता को कभी पूरी तरह से समझा नहीं जा सकता। ये आत्मप्रेरित, साहसी, जिज्ञासु, चेहरे पर ईमानदारी की चमक लिए, अज्ञात, गुमनाम पथ प्रदर्शक। ग्रामीण सरकारी स्कूल की इन महिला शिक्षिकाओं के साथ अपनी बातचीत के बारे में मुझे और क्या याद है? एक बात जो निश्चित तौर पर याद है वह है उनमें से एक शिक्षिका के ये मार्मिक शब्द :"मुझे पता है कि इन सब बातों की हमारी प्रणाली में कोई मान्यता नहीं है लेकिन अगर खण्ड कार्यालय से मुझे कोई शाबाशी देते हुए एक एस.एम.एस भी भेज दे कि 'वेल डन', तो मैं जीवन भर के लिए खुश हो जाऊँगी।''

क्या आपको याद है कि सरकारी स्कूल के शिक्षकों को हर माह 500 रुपए दिए जाते थे ताकि वे पाठ्यपुस्तकों को संवर्धित करने के लिए शिक्षण अधिगम सामग्री का निर्माण कर सकें? मुझे यह बात अच्छी तरह से याद है क्योंकि अपने शुरुआती दौरों के दौरान मैं बड़े अभावुक रूप से कहा करता था कि इन 500 रुपयों से स्थानीय बाजारों में थर्मोकोल की बिक्री बढ़ेगी। अधिकांश शिक्षक थर्मोकोल को विभिन्न आकारों में काटकर उनमें रंग भरकर कक्षा में उसका उपयोग यह सोचकर करेंगे कि इससे उन्हें कक्षा–शिक्षण में मदद मिलेगी। लेकिन इन्हीं जगहों में पिछले सालों में मुझे एक विनम्र व सुखद सच्चाई सीखने को मिली – शिक्षक वाकई सीखना चाहते हैं, वे अपने को सुधारना चाहते हैं। और इसीलिए जब गाँव के इन्हीं स्कूलों में कोई संसाधक इन्हें गणित या इतिहास पढ़ाने के लिए सहायक सामग्री बनाना सिखाता है तो वे श्रेष्ठता में खुद तक को मात दे देते हैं। कर्नाटक के यादगीर जिले के सूरपुर तालुक के वही शिक्षक जो थर्मोकोल काटकर मन्दिर और किले बनाया करते थे, वे अब बच्चों के साथ मिलकर ऐसे मनोरम वीडियो बनाने लगे हैं जो गाँव के इतिहास, किसी विशेष आकृति या आकार के महत्त्व, कब्रिस्तान के निर्माण या किसी स्थानीय सेनापति की सेना की किले पर चढ़ने की विशेष योग्यता के बारे में विवरण देते हैं। सहज और स्वाभाविक रूप से बच्चों के साथ उन्होंने यह शैक्षिक यात्रा इसलिए की ताकि स्थानीय लोगों से प्राप्त पीढ़ियों से चली आने वाली कथाओं को आदर देते हुए भी इतिहास में प्रमाणों की प्रमुखता को समझा जा सके।

सरकारी स्कूलों और ग्रामीण भारत के शिक्षकों के इन चित्रों को साथ में जोड़ने पर शायद सार्वजनिक शिक्षा सम्बन्धी चर्चा के सन्दर्भ में कुछ चीजों को देखा जा सकता है। पहली बात, अपने कार्य से प्रेम करने वाले परिश्रमी, प्रतिबद्ध और प्रेरित शिक्षक ही परिवर्तन लाते हैं। दूसरी बात, जो शिक्षक स्वायत्तता का प्रयोग करना चाहते हैं उनके लिए सार्वजनिक स्कूलों और पाठ्यचर्या में पर्याप्त स्थान और स्वायत्तता है। तीसरी बात, जो

शिक्षक अपने बच्चों की बेहतरी चाहते हैं वे संसाधनों और सामग्री का उपयोग कर सकते हैं। जब हम सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली जैसी विशाल प्रणाली की बात करते हैं तो वहाँ नीति का क्रियान्वयन, शैक्षिक और प्रशासनिक संस्थागत समर्थन जैसे प्रचलित शब्दों के साथ और कुछ अन्य बातें भी देखने में आती हैं जो इस प्रणाली को एक विशाल स्तम्भ के रूप में मानती हैं। हम मुद्दे या तथ्य से बिल्कुल चूक जाते हैं। जमीनी स्तर पर, सभी बाधाओं का दिलेरी के साथ सामना करने वाले बहादुर शिक्षक के लिए दो कक्षा कक्ष, बच्चे, अपने बच्चों की शिक्षा के लिए उन पर भरोसा करने वाला समुदाय और उनकी अपनी अन्तरात्मा ही उनका संसार है। ये बच्चे ज्यादातर पहली पीढ़ी के शिक्षार्थी हैं, जिन्हें माता–पिता से बहुत कम या बिल्कुल भी सहायता नहीं मिलती और जिनके घरों में शायद ही कोई पठन सामग्री मिलती हो। इनमें से कई बच्चों के लिए तो स्कूल में दिया जाने वाला दोपहर का भोजन ही शायद पूरे दिन में मिलने वाला एकमात्र गर्म भोजन होता है। समय पर किताबें, वर्दी और अन्य सामग्री को पाने में प्रयासरत और बच्चों के साथ हर दिन कार्य करने वाले इन शिक्षकों के लिए उनके बच्चों के द्वारा की गई हर छोटी प्रगति किसी बड़ी जीत से कम नहीं। वे अपने स्वयं की दूरदराज दुनिया में बदलाव ला रहे हैं और वे न तो यह समझना चाहते हैं कि प्रणालीगत परिवर्तन से हमारा क्या आशय है और न ही वे उसका इन्तजार करते हैं।

**एस. गिरिधर** अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु के रजिस्ट्रार और चीफ ऑपरेटिंग ऑफिसर हैं। उनसे giri@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# सरकारी स्कूल प्रणाली[1] के साथ हमारे अनुभव

आनन्द स्वामीनाथन

## प्रचलित धारणा

आमतौर पर सरकारी स्कूलों[2] को औसत दर्जे का और असफल माना जाता है। यह माना जाता है कि उनका बुनियादी ढाँचा अपर्याप्त और उपेक्षित होता है। शिक्षक स्कूल में आते ही नहीं हैं; अगर आते हैं तो पढ़ाते नहीं; और अगर पढ़ाते हैं तो बच्चे सीखते नहीं। अधिकांश सरकारी स्कूलों के बच्चे कई साल तक स्कूल में पढ़ने के बावजूद न तो पढ़–लिख सकते हैं और न ही बुनियादी गणित जानते हैं। केवल बहुत गरीब लोग ही अपने बच्चों को स्थानीय सरकारी स्कूलों में भेजते हैं; लेकिन अगर उनके पास कोई विकल्प होता तो वे निजी स्कूलों को ही चुनते जो बेहतर होते हैं। यह एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सुधार की कोई उम्मीद नहीं।

मुख्यधारा की मीडिया और नागरिक समाज के अनेक नव–उदारवादी लोग इस विचार को और हवा देते हैं। ये विचार इतने प्रबल हो गए हैं कि अगर इनके विपरीत कोई अनुभव या सबूत मिलें भी तो उन्हें कोई नहीं सुनता। इस लेख में इस बात की जाँच की गई है कि इस घिसे–पिटे दृष्टिकोण में कितनी सच्चाई है और कितना मिथक है।

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन 2001 से अति ग्रामीण, दूरस्थ और पिछड़े जिलों में सरकारी स्कूल प्रणाली के साथ कार्य कर रहा है। प्रतिदिन हमारी टीम ऐसे स्कूलों में जाती है जहाँ कोई संचार व्यवस्था नहीं है, जो राजस्थान के रेगिस्तानों, उत्तराखण्ड के पहाड़ों, मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्रों और देश के कई ऐसे ही भागों में स्थित हैं।

हजारों शिक्षकों और अन्य लोगों के साथ साल दर साल के इस सतत जुड़ाव ने हमें सरकारी स्कूल प्रणाली के तरीकों और अभिप्रेरणाओं के बारे में गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान की है। ये अनुभव प्रचलित तुच्छ बताने वाली धारणाओं से अलग हैं और इनके बारे में बताना आवश्यक है।

## चीजों को परिप्रेक्ष्य में रखना

पिछले तीन दशकों में भारत ने हर गाँव में स्कूल खोलने की भरसक कोशिश की है। आज सरकारी प्राथमिक स्कूल और आँगनवाड़ी केन्द्र (प्री–स्कूल) भारत में सार्वजनिक प्रणाली के सर्वव्यापी प्रतीक हैं। आप देश में कहीं भी, किसी भी गाँव में चले जाइए, भले ही वह गाँव अति दूरस्थ हो या दुर्गम, लेकिन इस बात की पूरी सम्भावना होगी कि आपको वहाँ सरकारी स्कूल देखने को मिले। हमारे इस व्यापक देश में जहाँ की भौगोलिक स्थितियाँ अत्यन्त जटिल हैं, यह एक महान उपलब्धि है।

हमारे देश में करीब 11 लाख प्राथमिक स्कूल हैं और पूरी दुनिया में इतनी बड़ी सरकारी स्कूल प्रणाली और कहीं नहीं है।[3] इन स्कूलों में लिंग, जाति या धर्म पर ध्यान दिए बिना नामांकन करीब–करीब सार्वभौमिक है। अगर 30 साल पहले की स्थिति पर नजर डालें तो उन दिनों आज की तुलना में केवल आधी संख्या में ही लड़कियाँ स्कूल जाती थीं, इसलिए आज की स्थिति अत्यन्त उल्लेखनीय है। यह सब संयोग से नहीं हुआ, बल्कि यह तो एक व्यवस्थित प्रयास का नतीजा है जिसमें इस बात को सुनिश्चित किया गया कि देश का

---

[1]"सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली" शब्द के लिए व्यापक व्याख्या और आलोचना की सम्भावनाएँ हैं। उदाहरण के लिए : क्या इस शब्द का प्रयोग केवल सरकार द्वारा चलाए जाने वाले स्कूलों के लिए करना चाहिए, या इसमें वे स्कूल भी शामिल किए जा सकते हैं जो सरकार द्वारा चलाए तो नहीं जाते लेकिन उनके द्वारा विनियमित हैं? जिस प्रणाली को नागरिकों के एक बड़े वर्ग के द्वारा त्याग दिया गया है, क्या उसे वाकई सार्वजनिक कहा जा सकता है? चूँकि इस लेख में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा सरकारी स्कूलों के साथ कार्य करने के अनुभवों के बारे में विशेष रूप से बताया गया है इसलिए मैं और अधिक विशिष्ट शब्द 'सरकारी स्कूल प्रणाली' का प्रयोग कर रहा हूँ।

[2]सरकारी स्कूलों से मेरा आशय राज्य द्वारा संचालित उन स्कूलों से है जो प्रणाली के एक बड़े हिस्से का निर्माण करते हैं। इनमें वे सरकारी स्कूल शामिल नहीं हैं जो विशेष योजनाओं के तहत अलग प्रबन्धन आदि के द्वारा चलाए जाते हैं। उदाहरण के लिए केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय, कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय, सेना स्कूल, सहायता प्राप्त स्कूल आदि।

[3]एक और तुलना प्रस्तुत करने के लिए यह कह सकते हैं कि भारत में 1.5 लाख डाक–घर हैं।

हर बच्चा स्कूल में हो – वह कौन है या कहाँ रहता है – इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।[4] सरकारी तन्त्र के बारे में सोचते समय इस परिप्रेक्ष्य को (इसके विशाल पैमाने और जटिलता को तथा इसकी उल्लेखनीय प्रगति को) ध्यान में रखना जरूरी है क्योंकि ये एक स्वस्थ और विकासशील प्रणाली के द्योतक हैं।

## सरकारी स्कूल कार्य करते हैं

कुल मिलाकर, अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में हम सभी ने पिछले एक दशक से भी अधिक समय में हजारों सरकारी स्कूलों का दौरा किया है। ये दौरे न तो संक्षिप्त हैं और न ही एक बार के लिए हैं। इसके अलावा, हमारे काम करने का ढाँचा ही ऐसा है कि हम अविकसित जिलों में कार्य करते हैं, तो स्कूल जितना ही सुदूर होगा उतनी ही हमारे वहाँ होने सम्भावना भी अधिक होगी।

हमने तो वहाँ अक्सर यही देखा है कि शिक्षक और विद्यार्थी स्कूल आते हैं और शिक्षण–अधिगम के प्रयास भी बड़ी ईमानदारी के साथ किए जाते हैं। जो लोग सरकारी और निजी स्कूलों से सम्बन्धित उग्र विवादों से परिचित नहीं हैं उन्हें लग सकता है कि इसमें कौन–सी बड़ी बात है, यह तो एक बुनियादी बात है क्योंकि स्कूल से यही उम्मीद तो की जाती है! लेकिन जो इस बात का विश्वास नहीं करना चाहते उनके लिए तो यह किसी निन्दा से कम नहीं।[5]

इसके अलावा, स्कूलों में आमतौर पर पर्याप्त कक्षाएँ, पेयजल, लड़के–लड़कियों के लिए शौचालय और भली प्रकार से प्रबन्धित मध्याह्न भोजन (जो कई विद्यार्थियों के लिए दिन का सबसे महत्त्वपूर्ण भोजन है) की व्यवस्था है।[6,7]

सरकार दिन–प्रतिदिन ये सारे कार्य 11 लाख विभिन्न स्थानों में सफलतापूर्वक कर रही है जो एक ऐसी प्रशासनिक उपलब्धि है जिसका अध्ययन होना चाहिए।

## तो फिर विद्यार्थी सीख क्यों नहीं रहे हैं?

स्कूल–शिक्षा की पहेली यह है कि शिक्षण के लिए ईमानदारी के साथ प्रयत्न करने और कई सालों तक स्कूल में रहने के बावजूद भी विद्यार्थी अधिगम के लिए जूझते नजर आते हैं। औसतन, विद्यार्थी प्रत्येक कक्षा में अपेक्षित शैक्षिक अवधारणाओं का केवल 40–50% ही सीखते हैं।[8]

इस बारे में एक तर्क शिक्षकों से सम्बन्ध रखता है। वह इस प्रकार है, 'शिक्षण का पेशा अपनी इच्छा से चुना जाने वाला या अच्छा वेतन दिलाने वाला पेशा नहीं है और इसे वही लोग चुनते हैं जिनके पास आजीविका का कोई और विकल्प नहीं होता। ऐसे शिक्षकों से आप और क्या उम्मीद कर सकते हैं?'

वास्तव में इस तर्क का कोई आधार नहीं है। क्योंकि एक, कई लोग सरकारी स्कूल का शिक्षक बनने की आकांक्षा रखते हैं; देश के कई कस्बों और गाँवों में सरकारी शिक्षक की नौकरी में अन्य विकल्पों की तुलना में बेहतर वेतन मिलता है और सेवा की शर्तें भी अच्छी होती हैं।[9] दो, अच्छा शिक्षक होना कुछ ही लोगों का निजी अधिकार नहीं है। ज्यादातर लोग उचित शिक्षा और अभ्यास के द्वारा सक्षम शिक्षक बन सकते हैं।

कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि विद्यार्थियों की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि और उनके शिक्षार्जन के बीच मजबूत सम्बन्ध है। वे यह भी कहते हैं कि वंचित

---

[4]ऐसे लोग भी हैं जो यह तर्क देते हैं कि इस विशाल विस्तारण के कारण भलाई से अधिक बुरा ही हुआ है। हमारे पास अन्ततः बहुत छोटे स्कूलों का एक बड़ा भाग है (<20–30 बच्चे और 1–2 शिक्षक) जो शैक्षिक, आर्थिक और प्रशासनिक रूप से अव्यावहारिक हैं। हालाँकि यह ज्ञान काफी हद तक पूर्वव्यापी है।

[5]सरकारी स्कूलों और शिक्षकों की निन्दा करना तो आजकल का फैशन है। कुछ आलोचनाओं का निश्चित आधार है, जिसके बारे में हम आगे पता लगाएँगे। लेकिन हर बात को एक असफल प्रणाली के तहत रखना किसी काल्पनिक कहानी से कम नहीं। इस बात से कोई मदद नहीं मिलती कि सरकारी स्कूलों के ये निन्दक निजी स्कूलों के माने हुए प्रशंसक हैं। लेकिन इस बारे में बाद में बात करेंगे।

[6]इसका मतलब यह नहीं कि सभी सरकारी स्कूलों में पर्याप्त कक्षा–कक्ष आदि हैं। अपर्याप्त बुनियादी सुविधाओं वाले स्कूलों का कम किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रतिशत है हालाँकि यह सामान्य मानदण्ड नहीं है।

[7]स्कूलों के पास रखरखाव के लिए अपर्याप्त बजट होता है। यानी यह एक सामान्य बात है कि सरकारी स्कूलों की सुविधाओं की हालत खस्ता हो जैसे कक्षाओं में पुताई की जरूरत होती है, शौचालयों में पाइपलाइन की समस्याओं का होना या खुले स्थानों में घास–फूस का होना।

[8]यह हमारे आन्तरिक आकलन पर आधारित है। वैसे विद्यार्थी–अधिगम के बारे में विभिन्न अध्ययनों द्वारा कई बार व्यापक संकेत दिए गए हैं जिनके बारे काफी हद तक आम सहमति है।

[9]कई राज्य सरकारों ने बड़ी संख्या में 'पैरा शिक्षकों' की नियुक्ति करने की अदूरदर्शिता दिखाई। इन पैरा शिक्षकों में अपेक्षित शैक्षिक योग्यता नहीं होती थी और इन्हें नियमित शिक्षकों से बहुत कम वेतनमान पर अल्प अवधि के लिए अनुबन्ध पर काम पर रखा जाता था। इस कारण देश में अध्यापन के पेशे का गम्भीर रूप से अवमूल्यन हुआ। शुक्र है कि अब आर.टी.ई. 2009 के लागू होने के बाद यह प्रथा अवैध हो गई है।

घरों के बच्चों का अधिगम स्तर विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के बच्चों से कम होता है। चूँकि सरकारी स्कूलों में अधिकांश बच्चे गरीब घरों से आते हैं इसलिए उनका अधिगम स्तर कम होता है। इसलिए गरीबी को कम करना ही 'अपर्याप्त अधिगम' का एकमात्र समाधान है।

इस तर्क में तीन बातें छूट गई हैं। एक, नैतिकता की दृष्टि से यह विचार एकदम व्यर्थ है कि किसी बच्चे का अधिगम इस बात से निर्धारित होता है कि उसने किस परिवार में जन्म लिया है। जो राष्ट्र लोकतंत्र का आकांक्षी है, वहाँ ऐसा तर्क गम्भीर रूप से नुकसानदेह होता है कि किसी की योग्यताएँ और विकल्प उसके जन्म के द्वारा निर्धारित हों।

दो, नए सबूत यह बताते हैं कि विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के बच्चों के अधिगम स्तर के बेहतर होने का कारण यह है कि उन्हें घर पर अधिक शैक्षिक अनुभव मिलते हैं। उदाहरण के लिए किसी शहरी मध्यम वर्गीय परिवार के बच्चे को बाल–साहित्य से सम्बन्धित पुस्तकों के उपयोग का ज्यादा मौका मिलता है; और इस बात की सम्भावना भी कम होती है कि उसे परिवार की आजीविका में सहायता के लिए काम करना पड़ता हो। लेकिन हाँ, सकारात्मक कार्य इन अन्तरों को कुछ कम कर सकते हैं–जैसे कि सरकारी स्कूल में एक अच्छे पुस्तकालय का होना या बच्चों को छात्रवृत्ति देकर गरीब परिवारों की मदद करना।

तीन, इस विचार में शैक्षिक वैधता नहीं है। कोई भी अच्छा शिक्षक आपको यह बता देगा कि अगर शिक्षण अच्छा हो तो कोई भी बच्चा प्राथमिक पाठ्यक्रम में महारत हासिल कर सकता है।

### शिक्षक और गलत अध्यापन परिकल्पना

शिक्षण एक जटिल पेशा है। इसमें अपने विषय की अवधारणाओं को गहन रूप से समझना जरूरी है। हम देखते हैं शिक्षक पाठ्यपुस्तक का अच्छा ज्ञान रखते हैं लेकिन उतना ही काफी नहीं है। उदाहरण के लिए इतिहास के शिक्षक के लिए यह समझना जरूरी है कि इतिहास क्या है, ऐतिहासिक ज्ञान का निर्माण कैसे होता है, दुनिया का व्यापक ऐतिहासिक परिदृश्य क्या है आदि। दुर्भाग्य से हमारी स्कूली और उच्च शिक्षा प्रणाली विषयों में गहन अवधारणात्मक क्षमता के निर्माण में सहायता नहीं करती।

शिक्षण में कक्षा के हर विद्यार्थी के बारे में अन्तर्दृष्टि का होना भी जरूरी है। यह आसान नहीं है। क्योंकि सम्भव है कि शिक्षक विद्यार्थी की पारिवारिक स्थिति से परिचित न हों। अधिकांश शिक्षक सामान्य जाति की श्रेणियों और मध्यम वर्ग के होते हैं। सरकारी स्कूल के विद्यार्थी गरीब परिवारों के होते हैं और उनके अनुसूचित जाति और जनजाति और अन्य पिछड़ी जातियों के होने की सम्भावना अधिक है।

शिक्षण का मार्गदर्शन लोकतांत्रिक समाज में स्कूल की व्यापक भूमिका की समझ के द्वारा किया जाना चाहिए। साथ ही यह समझना भी जरूरी है कि किसी विषय विशेष के सन्दर्भ में बच्चा अर्थ निर्माण कैसे करता है।

सरकारी स्कूल की कक्षा एक जटिल रंगमंच जैसी है। यहाँ विभिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि के बच्चे होते हैं। विद्यार्थी अधिगम के विभिन्न चरणों में होते हैं और अधिगम की प्रक्रिया में अलग–अलग क्षमताएँ और प्रवृत्तियाँ लेकर आते हैं। यह जटिलता तब और भी बढ़ जाती है जब विभिन्न कक्षा के विद्यार्थियों को एक ही कक्षा में साथ–साथ बैठा दिया जाता है। सबसे बड़ी जटिलता तब पेश आती है जब बच्चे अलग–अलग भाषायी पृष्ठभूमि से आते हैं और ये भाषाएँ न तो उनके शिक्षकों की होती हैं और न ही उनके स्कूल की।

शिक्षक को विषय के बारे में अपनी और शिक्षार्थी की समझ को जोड़कर, उसे सार्वजनिक शिक्षा के व्यापक उद्देश्य में रखकर और फिर इन सबको कक्षा की विविधता के साथ अनुकूलित करना पड़ता है। जब शिक्षक अपनी सभी क्षमताओं को एक साथ समेटकर विद्यार्थियों का शिक्षण करते हैं तो यही अध्यापन या शिक्षाशास्त्र है।

हमारी गलत अध्यापन परिकल्पना यह है : अधिकांश शिक्षक इस तरह से पढ़ाना ही नहीं जानते जिससे बच्चे सीख पाएँ। (यहाँ स्पष्टीकरण यह है कि यह शिक्षकों पर टिप्पणी नहीं है, बल्कि यह तो भारत में शिक्षक–शिक्षा की दयनीय स्थिति का प्रतिबिम्ब है।)[10]

[10]आज की सबसे बड़ी जरूरत यह है कि अपनी निराशाजनक शिक्षक–शिक्षा प्रणाली के अक्षम (और अक्सर झूठे) कॉलेजों को खत्म कर दें और बुनियादी रूप से नई प्रणाली को स्थापित करें। आशा है कि राष्ट्रीय शिक्षक एवं शिक्षण मिशन इस क्षेत्र में सकारात्मक परिवर्तन लाएगा।

कई नए शिक्षक आरम्भ में बड़ी ईमानदारी के साथ कार्य शुरू करते हैं और कार्य को सुचारु रूप से करने के लिए अक्सर असाधारण और ईमानदार कोशिशें भी करते हैं। लेकिन चूँकि उन्हें अपने पेशे के लिए भली प्रकार से तैयार नहीं किया जाता है और न ही उन्हें नौकरी के दौरान कोई सहायता मिलती है इसलिए वे हार मान लेते हैं। कुछ महीनों या सालों की कोशिशों के बाद अधिकांश शिक्षक ऐसे शैक्षणिक तरीकों को अपना लेते हैं जो अधिक प्रभावकारी नहीं होते और जो लेक्चर देने, रटने, बार–बार दोहराने और छड़ी पर आधारित होते हैं।

पिछले कुछ पैराग्राफ में निराशाजनक चित्र देखने को मिलता है लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है, अभी भी निराशाओं से ज्यादा आशाएँ हैं। हमारा अनुभव तो यह कहता है कि बड़ी संख्या में शिक्षक और अन्य लोग वाकई इस मुद्दे को लेकर चिन्तित हैं। अगर उन्हें सही मदद मिले तो वे अपनी पेशेवर क्षमताओं के पुनर्निर्माण के लिए बड़ी संख्या में आगे आते हैं।

हम विभिन्न जिलों में तकरीबन 25% सरकारी शिक्षकों और प्रधानाध्यापकों के साथ कार्य करते हैं और वे अपने विकास के लिए आयोजित कार्यक्रमों में स्वेच्छा से अपना निजी समय (स्कूल के बाद, सप्ताह के अन्त में और छुट्टियों वाले दिन) देने के लिए तैयार रहते हैं। हममें से कितने ऐसे लोग हैं जो महीने दर महीने अपनी छुट्टियों को सिर्फ इसलिए त्यागने के लिए तैयार होंगे ताकि हम अपने कार्य को बेहतर रूप से कर सकें? लेकिन ये शिक्षक ऐसा करते हैं और वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें अपने पेशे की परवाह है और वे अपने विद्यार्थियों की चिन्ता करते हैं।

## निजी स्कूलों का तेजी से विकास

हमारे देश को एक मजबूत सरकारी स्कूल प्रणाली की जरूरत है। एक स्वस्थ लोकतंत्र को ऐसी स्कूल प्रणाली की जरूरत है जो उसके आदर्शों के लिए सक्रिय रूप से कार्य करे, जो विद्यार्थियों को लोकतांत्रिक मूल्यों और तर्कसंगत विचारों से अवगत कराए। और मैं ऐसी किसी और रचना की कल्पना नहीं कर सकता जो यह कार्य उतने बड़े पैमाने पर भली प्रकार से कर सके जितने की माँग हमारे देश में है।

निजी स्कूलों की जैसी प्रकृति है उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते। निजी उद्यम संचालित स्कूलों का झुकाव[11] स्वाभाविक रूप से उन समुदायों की तत्काल आकांक्षाओं को पूरा करना होता है जिनकी सेवा वे करते हैं। लाभ कमाने (व्यवहार में तो ऐसा है, भले ही कागज पर न हो) के लिए तेजी से बढ़ते हुए ये निजी स्कूल पूरे देश में छा गए हैं और इनकी फीस प्रति माह सौ रुपए से लेकर एक लाख रुपए तक है।

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि निजी स्कूल सामाजिक और आर्थिक रूप से समान समूह की सेवा करते हैं और इससे सामाजिक स्तरीकरण को बढ़ावा मिलता है। ऐसा करके हम अपने समाज के मन में असमानता की भावना पैदा कर रहे हैं। इसलिए, हालाँकि निजी स्कूलों के साथ मेरी कोई लड़ाई नहीं है और मैं कुछ अत्युत्तम निजी स्कूलों के बारे में जानता भी हूँ, कुल मिलाकर, निजी स्कूल प्रणाली लोकतंत्र में स्कूल प्रणाली के उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपर्याप्त है।

अब अगर निजी स्कूल विद्यार्थियों के एक छोटे से भाग के लिए कार्य करते हैं तो शायद यह चिन्ता का मुख्य कारण नहीं है। लेकिन भारत में ऐसा नहीं है। शहरों के 67% बच्चे निजी स्कूलों में जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में यह संख्या घटकर 23% हो जाती है, लेकिन जिस तरह की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है उससे तो लगता है कि वहाँ भी तेजी से बदलाव हो रहा है। हो सकता है कि अगले दशक तक पूरे देश में निजी स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या सरकारी स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या से अधिक हो जाए।

भारत में निजीकरण के समर्थन का बहुत प्रचार है जिसके अनुसार निजीकरण एक अच्छी बात है, सिर्फ इसलिए कि निजी स्कूल बेहतर हैं। लेकिन दुनिया भर से मिलने वाले सबूत स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि निजी स्कूल विद्यार्थी–अधिगम में जितना योगदान देते हैं, सरकारी स्कूलों का योगदान उससे कम नहीं है।[12]

हमने तो यही देखा है कि कई निजी स्कूल जो सरकारी स्कूलों के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं, वे अक्षम शिक्षकों को लगभग उन्हीं शर्तों पर नौकरी पर रख लेते हैं जैसे

[11]कई निजी स्कूल ऐसे भी हैं लाभ–निरपेक्ष हैं और मुख्य रूप से सामाजिक उद्देश्यों के लिए चलाए जा रहे हैं, मैं यहाँ उनकी बात नहीं कर रहा।

[12]भारतीय सन्दर्भ में इन अध्ययनों से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है 'The longitudinal School Choice study in Andhra Pradesh'| मेरे सहयोगी डी.डी. करोपाडी का यह विशेष EPW लेख देखें : http://www.epw.in/special-articles/does-school-choice-help-rural-children-disadvantaged-sections.html

अनुबन्धित श्रमिकों को रखा जाता है और इन स्कूलों का कार्य–व्यापार ठसाठस भरे हुए तथा असुरक्षित परिसर भवन में होता है। भय को एक स्वीकार्य शैक्षणिक साधन माना जाता है और स्कूल प्रणाली को बच्चों के अनुसार अनुकूलित करने के लिए बहुत कम प्रयास किया जाता है। परेशान करने वाली बात यह है कि शायद यही शैक्षिक भविष्य हमारे बच्चों पर हावी हो जाए।

कई लोगों का मानना है कि यह बदलाव उस बड़े सामाजिक बदलाव का हिस्सा है जिसके तहत सेवाओं को सार्वजनिक से निजी द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। सार्वजनिक संस्थानों के बारे में बढ़ते अविश्वास के साथ एक उदार बाजार अर्थव्यवस्था के जुड़ जाने से इस बात को और भी शह मिलती है। मुद्दा यह है कि शिक्षा कोई ऐसी सेवा नहीं है जिसका कारोबार किया जा सके, वरन यह तो एक खास तरह की नागरिकता और राष्ट्र के विकास की सामाजिक प्रक्रिया है।

## निष्कर्ष

सरकारी स्कूल प्रणाली ने वाकई महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। यह इस विशाल देश के हर कोने में फैल गई है। इसने अत्यधिक वंचित पृष्ठभूमि वाले बच्चों को भी स्कूल में आने के लिए प्रेरित किया है।

यह प्रणाली प्रतिदिन अपना कार्य करती है। शिक्षक और विद्यार्थी स्कूल आते हैं और ईमानदारी के साथ शिक्षण–अधिगम के प्रयास किए जाते हैं।

लेकिन विद्यार्थियों का अधिगम अभी सन्तोषजनक नहीं है और अब हमें यह पता लगाना है कि इस प्रणाली को विद्यार्थियों के हित में कार्य करने योग्य कैसे बनाया जाए। इसके लिए हमें अपने शिक्षकों और स्कूल के नेतृत्वकर्ताओं को अलग ढंग से तैयार करना होगा और उन्हें बेहतर समर्थन देना होगा।

आज भारतीय शिक्षा की सबसे बड़ी चुनौती निजी स्कूलों की बढ़त है, जो इस आधार पर शैक्षिक अवसरों का स्तरीकरण करते हैं कि माता–पिता फीस के लिए कितना खर्चा कर सकते हैं। स्कूल की शिक्षा का तेजी से जो निजीकरण हो रहा है उसे शह देने वाले कई कारणों में से एक है यह गलत धारणा कि ये स्कूल बेहतर हैं। इस धारणा को दूर करने के बारे में हम यही कल्पना कर सकते हैं कि सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता में इतना सुधार किया जाए कि वह साफ नजर आए। अब यह तो समय ही बताएगा कि इससे स्थिति बदलेगी या नहीं।

सरकारी स्कूल प्रणाली को वास्तविक रूप से समझने के लिए हमें दशकीय दृष्टिकोण (decadal view) को अपनाना होगा। और उससे हमें पता चलता है कि इस प्रणाली में अवनति की बजाय धीरे–धीरे परिपक्वता आ रही है। सही समर्थन मिले तो इसमें सुधार आ सकता है।

**आनन्द स्वामीनाथन** अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के क्षेत्रीय कार्यक्रमों के साथ कार्यरत हैं। उनसे anand@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# शिक्षा के क्षेत्र में कुछ संवैधानिक संघर्ष

पिछले 65 वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में कुछ संवैधानिक संघर्ष नजर आ रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे और प्रमुख मुकदमे नीचे दिए जा रहे हैं।

### 1. शिक्षा का अधिकार

मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य (1992) : इस केस में कहा गया है कि शिक्षा का अधिकार सीधे–सीधे जीवन के अधिकार से निकलता है। अनुच्छेद 21 के तहत जीवन के अधिकार और मानवीय गरिमा के अधिकार का आश्वासन तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक उसके साथ में शिक्षा का अधिकार भी न हो। इसलिए राज्यों का दायित्व है कि अपने नागरिकों के लिए सभी स्तरों पर शिक्षा की सुविधा प्रदान करने का प्रयास करे।

### 2. अनुच्छेद 21 ए की संवैधानिक वैधता

प्रमति शैक्षिक एवं सांस्कृतिक ट्रस्ट बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (2014) : इस केस में कहा गया है कि अनुच्छेद 21 ए, जो शिक्षा के अधिकार की गारण्टी देता है, संवैधानिक रूप से वैध था और उसके बुनियादी ढाँचे का उल्लंघन नहीं करता। हालाँकि केस ने यह भी कहा कि सभी सांस्कृतिक अल्पसंख्यक प्रशासित शैक्षिक संस्थान आर.टी.ई. अधिनियम, 2009 को लागू करने से मुक्त होंगे।

### 3. आर.टी.ई. अधिनियम की संवैधानिक वैधता

सोसायटी फॉर अनएडेड प्राइवेट स्कूल्स ऑफ राजस्थान बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (2012) : इस केस ने आर.टी.ई. अधिनियम, 2009 का समर्थन किया और कहा कि इससे संविधान के अनुच्छेद 19(1)(जी) के तहत व्यक्तियों के व्यापार और आजीविका के अधिकार का उल्लंघन नहीं होता।

### 4. अल्पसंख्यक अधिकार

गाँधी फैज–ए–आलम कॉलेज बनाम शाहजहाँपुर (1975) : इस केस में सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि किसी कॉलेज के प्रबन्धन बोर्ड पर 'प्राचार्य और स्टाफ' के प्रतिनिधित्व का प्रावधान कॉलेज के बेहतर प्रबन्धन के अनुकूल है और इसकी प्रकृति de minimis (न्यायालय तुच्छ बातों से सरोकार नहीं रखता) है ताकि अनुच्छेद 30(1) का उल्लंघन न हो, जो सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों को शैक्षिक संस्थानों की स्थापना और प्रशासन के अधिकार की गारण्टी देती है।

### 5. आरक्षण नीति की वैधता

पी. ए. इनामदार बनाम महाराष्ट्र राज्य (2005) : इस केस में अदालत ने कहा कि राज्य वैध रूप से निजी शिक्षण संस्थानों पर आरक्षण आबन्ध लागू नहीं कर सकता। इस निर्णय के परिणामस्वरूप 93वाँ संवैधानिक संशोधन हुआ जिसने इस प्रकार की नीतियों की अनुमति दी।

अशोक कुमार ठाकुर बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (2008) : इस केस में अदालत ने कहा कि 93वाँ संवैधानिक संशोधन, जिसने सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों को आरक्षण की अनुमति देने वाले संविधान के अनुच्छेद 15(5) को जोड़ा, संवैधानिक रूप से वैध था।

इन्दिरा साहनी बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (1992) : इस केस में अदालत ने कहा कि शिक्षण संस्थानों में आरक्षण के प्रयोजन के लिए सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन की पहचान करने के लिए कारकों की एक ऐसी विस्तृत शृंखला का प्रयोग किया जा सकता है जो केवल जाति तक सीमित न हो। इसने यह सिफारिश भी की कि पिछड़ेपन के निर्धारण के लिए आर्थिक मापदण्ड का उपयोग किया जाए, जिसने 'क्रीमी लेयर या समुन्नत वर्ग' की अवधारणा को जन्म दिया।

### 6. आर.टी.ई. में आधारिक संरचनात्मक मानक

जे.के राजू बनाम आंध्र प्रदेश राज्य (2014) : इस केस में सुप्रीम कोर्ट ने सरकार से पेयजल, लड़के और लड़कियों के लिए अलग शौचालय की उपलब्धता और शिक्षण व गैर शिक्षण कर्मचारियों के लिए अलग सुविधाएँ सुनिश्चित करने को कहा। गौरतलब है कि अदालत ने प्रमति का हवाला देते हुए कहा कि ये निर्देश अल्पसंख्यक और गैर अल्पसंख्यक संस्थानों पर लागू होंगे। दो न्यायाधीशों के पीठ ने इन निर्देशों की आवश्यकता को न्यायोचित ठहराते हुए इस मुहावरे को चुना "बुनियादी मानव अधिकार जो शिक्षा प्रदान करने वाले स्थान के वातावरण का संवर्धन करते हैं।

कानूनी मामलों के ये सारांश **गौरव मुखर्जी** द्वारा संकलित किए गए हैं जो अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ पॉलिसी एण्ड गवर्नेन्स में ग्रेजुएट फेलो हैं। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# निजी (Private) और सार्वजनिक (Public) पर कुछ असम्बद्ध विचार

अर्जुन जयदेव

मैं 1990 के दशक में अपने ग्रेजुएट स्कूल की पढ़ाई करने अमेरिका गया। युवा स्नातक विद्यार्थियों के अनुभव अक्सर एक से होते हैं–उन सबको एक–सी कक्षाएँ प्रेरित करती हैं, जीवन के बारे में उनकी चिन्ताएँ एक–सी होती हैं, उनकी जांबाजी एक–सी होती है और वे उनका सामना भी एक जैसे तरीके से ही करते हैं। मेरे साथी विद्यार्थी कनाडा, ब्रिटेन, चीन, यूरोप, कोरिया, तुर्की और अमेरिका के थे। उन भेंटों और मुलाकातों में जो अमित ऊर्जा और जीवन शक्ति फूटकर निकली, वह एक दशक के बाद आज भी मेरे जीवन में प्रतिध्वनित होती रहती है। जीवन का सामना करने के लिए मैं भी उतना ही तैयार था जितने कि वे लोग थे। कुछ सालों बाद उनमें से एक मित्र से बात करते समय मुझे एहसास हुआ कि उनमें और मुझमें एक गहरा संरचनात्मक अन्तर था (लेकिन अपने कार्य और जीवन में यह अन्तर बिल्कुल नजर नहीं आता था)। और यह अन्तर था– वे सब पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए थे और मैं, लगभग सभी दक्षिण एशियाई लोगों की तरह निजी स्कूल में पढ़कर आया था। फिर यूँ हुआ कि मैंने अपनी सहपाठिनी से विवाह कर लिया जो जीवन भर, किण्डरगार्टन से लेकर पीएच.डी. तक, सार्वजनिक प्रणाली में ही पढ़ी थी।

कई सालों बाद, मेरा बेटा अमेरिका के ऐसे स्कूल में दाखिल हुआ जो सार्वजनिक व्यवस्था वाला था। यह स्कूल सबसे 'मुश्किल' स्कूल के रूप में कुख्यात था। मेरे बेटे को पहले साल कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। लेकिन मुझे कभी ऐसा महसूस नहीं हुआ वह स्कूल या यूँ कहना अधिक सही होगा कि उस स्कूल के लोग मेरे बेटे को शिक्षा प्रदान करने में असफल रहे थे। शिक्षक प्यार करते थे, दयालु थे, अपने कार्य में प्रवृत्त थे और शैक्षणिक दृष्टि से प्रबुद्ध थे। वे विद्यार्थियों के साथ उतने ही प्यार और सरोकार के साथ पेश आते थे जितने प्यार और सरोकार के साथ मेरे शिक्षक दशकों पहले मेरे साथ पेश आते थे और यह बात मुझे बखूबी याद है।

अमेरिका और भारत में निजी और सार्वजनिक स्कूल के बारे में चल रही गरमागरम बहस के आलोक में जब मैं इन तथ्यों के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि क्या इस बात को लेकर सार्वजनिक/निजी के विरोधाभास की यह सनक ठीक है कि शैक्षिक परिणामों में क्या हासिल किया जा सकता है? मेरे मन की, बिना किसी शोध वाली सहज प्रवृत्ति यह है कि शिक्षा के लिए एक ऐसा समुदाय जिम्मेदार है जो अपने कार्य में संलग्न है, योग्य है और अनुक्रियाशील है और यह समुदाय मतभेदों से निपटने के लिए लचीला और सशक्त है। जिस पब्लिक स्कूल में मेरा बेटा जाता था, वहाँ माता–पिता स्कूल से जुड़े हुए थे, सहिष्णु थे और शिक्षकों के समर्थक थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि उनमें सामाजिक अपनत्व और सामुदायिक क्षमता की भावना थी। हालाँकि वहाँ का परिवेश जातीयता मिश्रित पड़ोस था लेकिन उसमें बच्चों के लिए सामूहिक जिम्मेदारी का सच्चा एहसास था।

तो फिर भारत में यह बात पूरी तरह से क्यों नहीं दोहराई गई? इसके लिए शायद इस प्रकार का व्यापक दृष्टिकोण लिया जा सकता है कि यह भारतीय समाज की विशेषता है सिर्फ भारतीय शिक्षा प्रणाली नहीं। सम्भव है कि इसका कारण हमारी सामाजिक सामूहिकता की भावना और देशीय व अधूरी आधुनिकता है। समावेशिता की यह कमी सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं महसूस की जा रही। हम कई क्षेत्रों में सार्वजनिक प्रावधान में पीछे हैं। जिस तरीके से व्यक्ति 'पब्लिक' की कल्पना करते हैं, उनके साथ अन्तःक्रिया करते हैं और उनके साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं, वह सामाजिक विज्ञान में पड़ताल के मूल क्षेत्र का निर्माण करता है। ये प्रश्न और कहीं भी इतने जटिल, विविध और रोचक नहीं हैं जितने कि भारतीय सन्दर्भ में हैं।

यह दावा अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि भारत में समानता की धारणा को सामूहिकता की भावना के रूप में नहीं समझा जाता। नब्बे के दशक में आई लोकतांत्रिक लहर के बावजूद, जिसने बाद में हाशिए पर डाले गए लोगों के लिए एक राजनीतिक आधार प्रदान किया, इस विचार को जरा सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है कि हम (मेरा

मतलब है मध्यम वर्ग) अपने पूरे समाज के लिए सामूहिक रूप से जिम्मेदार हो सकते हैं और हमें जिम्मेदार होना भी चाहिए। आधारभूत न्यूनतम गुणवत्तावाली बुनियादी मूल सुविधाएँ, सार्वजनिक बुनियादी ढाँचे और प्रशासन मुहैया कराने में समाज राज्य की संयुक्त विफलताएँ हमारी इन धारणाओं को बाधित करती रहती हैं कि क्या कुछ सम्भव है (इसीलिए समय–समय पर 'सुशासन' के लिए की जाने वाली अपीलें इतनी आकर्षक हैं)। साथ ही जिस समुदाय के प्रति हमारे कर्तव्य हैं उसकी सीमाएँ सीमित हो जाती हैं। इसलिए हर किसी के लिए 'व्यक्ति होने' की समानता वाली धारणा धुंधली ही रहती है। इसे दूसरी तरह से भी कहा जा सकता है कि अगर हमारी सामूहिक पहचान का प्रमुख (और शायद एकमात्र) बिन्दु बॉलीवुड और क्रिकेट तक सीमित रहता है (जिसका कि हम जश्न मनाते हैं), तो यह समानुभूति के लिए वाकई बहुत कमजोर आधार है।

यह तर्क, यूजन वेबर को क्षति पहुँचाने के लिए, 'किसानों को भारतीय बनाने' वाला तर्क नहीं है। आज के अपेक्षाकृत समरूप यूरोपीय राज्यों में पब्लिक की रचना रणनीतियों के दो सेटों पर आधारित थी : पहली सदोष संजातीय शोधन, हिंसक सीमा समायोजन और अल्पसंख्यकों का बलात आत्मसात्करण और, दूसरी एक ठोस प्रयास के माध्यम से राज्य क्षमता और राष्ट्रीय पहचान का निर्माण करके और जमींदारों तथा अन्य सामन्ती अभिजात वर्ग से छुटकारा पाकर। (first, through vicious ethnic cleansing, violent boundary adjustments and forced assimilation of minorities, and, second through a concerted effort at building state capacity, national identity and getting rid of landlords and other feudal elite.) अब तक हम दूसरे उपागम में थोड़ी प्रगति करने में कामयाब रहे हैं लेकिन पहली रणनीति को पूरी तरह से अपना नहीं पाए हैं। अगर पब्लिक को व्यावर्तकतावादी (exclusivist) आधार पर बनाया जाना है, तो यह वांछित नहीं है, विशेष रूप से हमारी वर्तमान शासन व्यवस्था को देखते हुए, जो बहुसंख्यकवाद की बदतरीन ज्यादतियों के बहुत नजदीक है।

तो फिर हम शिक्षा जैसी सामूहिक सम्पत्ति के प्रावधान और उसे समर्थन देने वाली पब्लिक काल्पनिकता के बारे में कैसे सोच सकते हैं? पिछले प्रयासों में मिली कम सफलता और वर्तमान समय की प्रचलित रीतियों में इसे जिस तरह से बढ़ावा दिया जा सकता है–उन्हें देखते हुए यह एक चुनौती है। मुझे यकीनी तौर पर तो यह नहीं मालूम कि कौन–सी ठोस नीतियों का समर्थन करना चाहिए, लेकिन कुछ बातें स्पष्ट लग रही हैं। यह धारणा गलत है कि चूँकि राज्य प्रावधान शिक्षा और अन्य क्षेत्रों में विफल हो गया है, इसलिए निजीकरण एकमात्र रास्ता है। लेकिन इस गलत धारणा को एक अकाट्य (अगर राजनैतिक रूप से गलत है) तर्क के रूप में देखा जाने लगा है। हमारे पास इस बात के बहुत सारे सबूत हैं कि वास्तव में ऐसा नहीं है और जैसा कि मेरे साथी स्नातक विद्यार्थियों ने मुझे सिखाया, लोगों को प्रबुद्ध, योग्य और कार्यधर्मी बनाने में सार्वजनिक शिक्षा कोई रुकावट नहीं डालती।

इसका यह मतलब नहीं कि हम भारत में सार्वजनिक शिक्षा और स्कूल की अनेकानेक कमजोरियों को घटाकर पेश कर रहे हैं, हम तो सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि तुलना करते समय शायद समान चीजों की तुलना नहीं की जा रही। भारत में मध्यम वर्ग जिस हद तक बेहतर स्कूलों में मानव और ढाँचागत संसाधनों के लिए पैसा खर्च कर सकता है, निश्चित ही उनके बच्चों को बेहतर शिक्षा प्रदान की जाएगी। लेकिन जब समान की तुलना समान से की जाए तो निजी स्कूल पब्लिक स्कूलों की तुलना में बेहतर प्रदर्शन नहीं करते। विशेष रूप से यह बात कम फीस लेने वाले निजी स्कूलों में नजर आती है, चाहे आप आन्ध्र प्रदेश (मुरलीधरन और सुन्दरम, 2015, करोपाडी, 2015) में हाल ही के रेंडम परीक्षण को देखें या प्राची श्रीवास्तव के अधिक व्यापक कार्य को देखें (समीक्षा के लिए श्रीवास्तव, 2013 देखिए)। स्कूलों में, समुदाय के जुड़ाव और कुल संसाधनों को लेकर अधिक प्रसंगोचित अन्तर दिखाई देंगे।

कानूनी सिद्धान्तकार Roberto Unger ने 'लोकतांत्रिक प्रयोगवाद' की बात कही है, जिसका अर्थ है कि मानव सामाजिक संगठन को कठोर और पूर्व निर्धारित संस्थागत व्यवस्था जैसे राज्य और निजी क्षेत्र तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए वरन प्रयोग और संशोधन के लिए मुक्त छोड़ देना चाहिए। भारत में इस तरह के दृष्टिकोण के लिए अनन्त सम्भावनाएँ हैं। संस्थागत और पाठ्यक्रम संगठन तथा अभ्यास के ऐसे बहुत सारे रूपों की कल्पना की जा सकती है जो शिक्षा के मौलिक मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हों। वास्तव में ऐसे कई प्रयोग हो भी रहे हैं फिर चाहे वह आर.टी.ई. जैसी सामाजिक नीतियों के माध्यम से हों या लोकविद्या जैसे विकल्पों के द्वारा। सभी स्थितियों में ऐसे लोगों की जरूरत है जो प्रतिबद्ध

हों और कार्यधर्मी हों और जो युवा वर्ग को शिक्षित करने के इन प्रयोगों को इस रूप में देखते हों कि यह पूरे समुदाय की जिम्मेदारी है।

ग्रेजुएट स्कूल के उन्हीं प्रारम्भिक वर्षों के दौरान मैंने इतालवी बुद्धिजीवी Antonio Gramsci द्वारा लिखा यह उद्धरण पढ़ा : 'कई बार मैं यह सोचता हूँ कि जब मन में किसी के लिए प्रगाढ़ भावनाएँ न हों, यहाँ तक कि अपने माता–पिता के लिए भी ऐसी भावनाएँ न हों तो क्या लोगों के समूह के साथ सम्बन्ध बनाना सम्भव है, क्या समष्टि का भाव सम्भव है जब व्यक्ति को स्वयं अन्य मानवों द्वारा गहरा प्रेम न मिला हो।' (Fiori 1965 के हवाले से)। यह उद्धरण पिछले कई वर्षों से मेरे साथ बना हुआ है और मेरे विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करने लिए उपयुक्त लगता है। अगर पब्लिक के वास्तविक और सार्थक भाव का सृजन करना है तो इसकी शुरुआत प्रेम और दूसरों की परवाह करने की भावना से होनी चाहिए। शिक्षा को भी इसी उद्देश्य की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। यह बात गौण है कि यह उद्देश्य प्राइवेट से पूरा होगा या पब्लिक से।

**References:**


1. Fiori G (1965) 'Antonio Gramsci: Life of a Revolutionary (1965)'
2. Karopady, DD (2014) 'Does School Choice Help Rural Children from Disadvantaged Sections? Evidence from Longitudinal Research in Andhra Pradesh'
3. Muralidharan, K and Sundaraman, V (2015). 'The Aggregate Effect of School Choice: Evidence from a Two-Stage Experiment in India' Quarterly Journal of Economics 2013, Vol. 130, No. 3, pp. 1011-66
4. Srivastava, P ed. (2013). 'Low-fee Private Schooling: aggravating equity or mitigating disadvantage?' Symposium Books Ltd, 2013



**अर्जुन जयदेव** मैसाचुसेट्स विश्वविद्यालय, बोस्टन में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हैं और अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु की फैकल्टी से भी सम्बद्ध हैं। वे इंस्टिट्यूट ऑफ न्यू इकोनॉमिक थिंकिंग से साथ भी जुड़े हुए हैं। उन्होंने एमहर्स्ट में मैसाचुसेट्स विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में पीएच.डी. की है। उनसे arjun.jayadev@apu.edu.in या arjunjayadev@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।
**अनुवाद** : नलिनी रावल

# वरदेनहल्ली स्कूल के बच्चों के साथ कुछ अनुभव

कमला मुकुन्दा

हमारे सरकारी स्कूलों के साथ हजारों लोग कार्य कर रहे हैं जो विद्यार्थियों के लिए अधिगम की परिस्थितियों और मनोवैज्ञानिक परिणामों में सुधार लाने में लगे हुए हैं। इन समर्पित लोगों के लिए मेरे हृदय में गहरी सराहना और प्रशंसा है। मैं खुद एक गैर–औपचारिक निजी स्कूल सेण्टर फॉर लर्निंग (सी.एफ.एल.) में पढ़ाती हूँ और हममें से अधिकांश शिक्षक और विद्यार्थी शहरी पृष्ठभूमि के हैं। सी.एफ.एल. के अनेक उद्देश्यों में से एक है – अपने जीवन से बाहर के जीवन और दुनिया के साथ जुड़ना, समय–समय पर अपनी सुख–सुविधा की स्थिति और इच्छा–सन्तुष्टि के भाव से बाहर निकलना। इस कार्य को हम कई प्रकार से करते हैं जिनमें से एक है पास के गाँव के प्राथमिक स्कूल के विद्यार्थियों के साथ जुड़ना। शुरू से ही हमने देखा है कि वरदेनहल्ली स्कूल के बच्चे भी इन अन्तःक्रियाओं को महत्त्वपूर्ण समझते हैं और इसलिए हम हर साल उनके साथ मिल–जुलकर कार्य करते हैं। इन विविध और समृद्ध मुलाकातों में हमने जो देखा और सीखा, आशा है कि मैं इस लेख में उनमें से कुछ अनुभव आपके साथ साझा कर पाऊँगी। लेकिन यह तय है कि हम सरकारी स्कूलों के साथ पूर्णकालिक कार्य करने वालों के अनुभवों की न तो गहनता को साझा कर सकते हैं और न ही व्यापकता को। इसलिए मैं बड़ी विनम्रता के साथ इन बिन्दुओं को आपके समक्ष रख रही हूँ।

सेण्टर फॉर लर्निंग नामक हमारा स्कूल वरदेनहल्ली गाँव में स्थित है जो बेंगलुरु से 40 किलोमीटर की दूरी पर है। इसमें लगभग 75 विद्यार्थी हैं। इस गाँव में करीब 100 घर हैं जिनकी आर्थिक सम्पन्नता के स्तर भिन्न–भिन्न हैं। ज्यादातर परिवारों के पास कुछ एकड़ जमीन है, कुछ के पास जमीन के साथ एक दुकान या एक ट्रैक्टर भी है और कुछ पेट भरने के लिए दैनिक मजदूरी करते हैं। गाँव में दो कमरों का एक प्राथमिक स्कूल है जिसे दो समर्पित और स्नेही शिक्षक चलाते हैं। इसमें 22 बच्चे हैं और पिछले कुछ सालों में बच्चों की संख्या बड़े नाटकीय ढंग से कम होती जा रही है। (जब हम 2000 में पहली बार यहाँ आए तो इस प्राथमिक स्कूल में करीब 60 बच्चे थे।) हमारे पड़ोसी गाँव बचेनहट्टी में एक उच्च प्राथमिक स्कूल है। वरदेनहल्ली स्कूल के बच्चे पाँचवीं कक्षा के बाद वहाँ चले जाते हैं। इस स्कूल में आसपास के गाँवों के कई बच्चे भी आते हैं। इसके बावजूद हाल के वर्षों में नामांकन की संख्या कम हुई है। शायद इसका कारण देश भर में व्याप्त कुछ बड़े सामाजिक कारक हैं।

वर्ष 2000 से हम सरकारी स्कूल और सी.एफ.एल के विद्यार्थियों के संयुक्त समूह के साथ छोटी–छोटी प्रायोजनाएँ करते रहे हैं। पिछले सालों में हमने विद्यार्थियों के साथ ये क्रियाकलाप किए हैं: द्विभाषी नाटक, खेल–खेलना, गणित, विज्ञान, इतिहास, अँग्रेजी गाने, नृत्य, मिट्टी के बर्तन बनाना, कला और क्राफ्ट (पेंटिंग, स्केचिंग, कढ़ाई, कोलाज, पेपर वीविंगग्रेजी का औपचारिक कार्यक्रम। आमतौर पर यह कार्यक्रम तीन महीने का होता है जिसमें एक सप्ताह में नब्बे मिनट का एक सत्र होता है।

बहुत थोड़े समय में ही गाँव के स्कूल के बच्चे हमारे और हमारे विद्यार्थियों के साथ स्नेह और विश्वास के सूत्र में बँध जाते हैं। वे इन साप्ताहिक अन्तःक्रियाओं को लेकर उत्सुक और उत्साहित रहते हैं, कुछ तो इसलिए कि बाहर के लोगों के साथ समय बिताने का नयापन

उन्हें अच्छा लगता है कुछ उन क्रियाकलापों की वजह से जो हम उनके साथ करते हैं। वे कुछ नया जानने और हम जो कुछ भी सुझाते हैं उसे करने के लिए उत्सुक रहते हैं। कुछ बच्चे (ज्यादातर गाँव के गरीब, निम्न जाति के परिवार की लड़कियाँ) शर्मीले होते हैं। वरदेनहल्ली में जाति–वर्ग का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है और आर्थिक सम्पन्नता, वर्ण, आकार और आत्मविश्वास का स्तर बच्चों में नजर आता है। वे शायद बड़ों की देखा–देखी अपनी खुद की श्रेणियाँ बना लेते हैं कि वे किसके साथ काम करेंगे या किसके पास बैठेंगे।

इन बच्चों के सर्वथा आज्ञाकारी और नियंत्रित व्यवहार को अचानक ही अनियंत्रित और शरारती व्यवहार में बदलने में देर नहीं लगती! जब हम उनसे मिलने उनके स्कूल जाते हैं तो वे बड़ा 'शिष्ट और सभ्य' व्यवहार करते हैं जो सी.एफ.एल. में आने के शुरुआती एक–दो हफ्तों तक जारी रहता है। यहाँ हम उन्हें जिन स्थानों में क्रियाकलाप करवाते हैं वह कुछ महत्त्वपूर्ण मायनों में अपेक्षाकृत असंरचित होता है : कोई बेंच या डेस्क नहीं होती ताकि वे आराम से चल–फिर सकें, उनके ध्यान को एक ही ओर केन्द्रित करने के लिए कोई श्यामपट्ट नहीं होता, उन्हें व्यस्त रखने के लिए कोई यांत्रिक कार्य नहीं करवाया जाता। महत्त्वपूर्ण बात यह कि उन्हें खुलकर चलने–फिरने के लिए बड़ा स्थान मिलता है और हम चाहते हैं कि उन्हें हर सत्र में कुछ समय इधर–उधर खुलकर दौड़ने का मौका मिले। इस प्रकार के कुछ सत्रों के बाद वे थोड़े से अनियंत्रित हो जाते हैं। जब हमारे सी.एफ.एल. के विद्यार्थी इस गड़बड़ी को सम्भालने की कोशिश में लगे होते हैं तो मुझे यह सब देखने में बहुत आनन्द आता है। जब स्थिति काबू से बाहर हो जाती है तब वे उन्हें घुड़की देते हैं कि ऑण्टी को बुलाएँगे या ऑण्टी आ रही हैं और बात बन जाती है!

जैसा कि मैंने पहले कहा, हम जान–बूझकर ऐसे क्रियाकलाप करवाते हैं जिनसे बच्चों को स्वतंत्र रूप से सोचने और अपनी अभिव्यक्ति तथा रचनात्मकता को खोजने का मौका मिले। इन बच्चों को दोहराना, नकल करना और कोरस में बोलना सिखाया गया है और हम उन कारणों को समझ भी सकते हैं। सी.एफ.एल. के सत्रों में उनसे कहा जाता है:"तुम क्या सोचते हो?" या ''उसकी किताब मत देखो, तुमको जो नजर आ रहा है तुम उसी का चित्र बनाओ।" हमारा अनुभव कुछ ऐसा रहा है : जब इन बच्चों से अपनी इच्छानुसार कोई चित्र बनाने को कहा जाता है तो ज्यादातर बच्चे तीन सीढ़ियों वाले भारतीय ध्वज का चित्र बना देते हैं। जब उनसे पौधे का चित्र बनाने को कहा जाता है तो सभी करीब–करीब एक जैसा पौधा ही बना देते हैं। तब हम उन्हें एक पौधे के सामने बिठाकर कहते हैं : इस पौधे का चित्र बनाओ। फिर भी कुछ बच्चे अपनी कल्पना से उसी निश्चित प्रकार के पौधे का चित्र बनाते हैं। आखिरकार बार–बार और धैर्यपूर्वक प्रेरित करने के बाद वे अपने स्वयं के अवलोकनानुसार चित्र बनाने लगते हैं और यह सुन्दर नजारा देखने लायक होता है। एक बार हमने कक्षा 7 के विद्यार्थियों के सामने एक घनाकार डिब्बा रखा और उसका चित्र बनाने को कहा। इसके पीछे विचार यह था कि वे त्रिआयामीय वस्तु को कागज के द्विआयामीय तल पर चित्रित करना सीखें। जिसने इस तरकीब (चित्र देखिए) को न सीखा हो, उसके लिए यह आसान काम नहीं और वे बच्चे ऐसा कुछ नहीं जानते थे कि जिसे तुरन्त कागज पर उतार सकें। पर इस प्रक्रिया में कुछ ऐसे चित्र सामने आए जो बहुत असामान्य और रचनात्मक थे। लेकिन जैसे ही हमने किसी बच्चे की ड्रॉइंग को अच्छा या रोचक कहा वैसे ही दूसरे बच्चों ने कोशिश करना छोड़कर उसी चित्र की नकल करने की कोशिश की।

इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा तब देखने को मिली जब हम पाँचवीं कक्षा के बच्चों के साथ इतिहास विषय में प्रायोजना कार्य कर रहे थे (विचारों और प्रेरणा के लिए हम दीपा धनराज की फिल्म का उपयोग कर रहे थे।) बच्चों ने अपने दादा–दादी से शुरुआत करते हुए वंशवृक्ष का चित्र बनाना सीखा और फिर उन्हें अपने परिवार के सदस्यों से जितने सम्भव हों उतने नाम पता करके

अपने परिवार का वंशवृक्ष बनाना था। अगले हफ्ते जब मैंने उनसे अपने चित्र दिखाने को कहा तो लड़कियों का समूह धीरे–धीरे हँसने लगा और उन्होंने अपने–अपने चित्र दिखाए – सारे वंशवृक्ष एक समान थे! उन्होंने बड़ी खुशी–खुशी मुझे बताया कि उन सबने अनसूया (वह कक्षा की मानी हुई 'अच्छी छात्रा' थी) के चित्र की नकल की थी। फिर मैंने लड़कों से चित्र के बारे में पूछा। तो उनमें से एक ने अनसूया का चित्र छीना और नकल करने लगा! बच्चों की हँसी के बीच उन्हें यह समझाने में थोड़ा समय लगा कि अनसूया की दादी सबकी दादी नहीं हैं आदि...।

इन सालों में हमने कुछ ऐसी बातें देखी हैं जिनसे हमें चिन्ता होती है, जो मन पर असर करती हैं क्योंकि हम सी.एफ.एल. के विद्यार्थियों से तुलना करते हैं। पहली बात तो यह कि वरदेनहल्ली के विद्यार्थी सी.एफ.एल. के अपनी ही उम्र के विद्यार्थियों की तुलना में आकार में औसतन काफी छोटे हैं। हालाँकि मैंने सामान्य आँकड़े देखे हैं और मैं यह जानती हूँ कि भारत के ग्रामीण बच्चे अविकसित होते हैं लेकिन अपनी आँखों से इसे देखना किसी आघात से कम नहीं, खासतौर पर इसलिए कि यह गाँव इतना गरीब नहीं है। दूसरी बात ये कि वैसे तो ये बच्चे ऊर्जा से भरपूर और तीव्रबुद्धि हैं लेकिन हमने यह पाया कि हमारे कुछ क्रियाकलाप जो हमें अपेक्षाकृत 'आसान' लगते हैं, उन्हें काफी कठिन लगते हैं जैसे ताली बजाते हुए लय बनाए रखना।

और तीसरी बात, हमने अँग्रेजी उच्चारण और व्याकरण सीखने में लगातार होने वाली समस्या को भी देखा है (हमारे सिखाए हुए सरल अँग्रेजी वाक्यों का एक ही हफ्ते में गलत हो जाना, स्मृति में इन विकृत रूपों को हमेशा पक्का करते रहना)। शायद इन अवलोकनों के बीच एक सम्बन्ध है। मनोवैज्ञानिक शोध के अनुसार स्कूल और जीवन में मस्तिष्क की क्षमताओं के समूह का बहुत महत्त्व है जिसे 'कार्यकारी कार्य' कहा जाता है (इसके लिए संज्ञानात्मक नियंत्रण और पर्यवेक्षी अवधानिक प्रणाली शब्द भी मिलते हैं)। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के हाल के एक प्रकाशन में इसे यूँ समझाया गया है :

"...पकड़ बनाए रखने और जानकारी के साथ कार्य करने की क्षमता, विकर्षणों को अलग करना और बदल पाना. .. इन क्षमताओं को वैज्ञानिक कार्यकारी कार्य और आत्म नियमन कहते हैं।"

वरदेनहल्ली के बच्चों में नजर आने वाली कठिनाइयों के लिए यह बात ठीक बैठती है।

इन कठिनाइयों का मूल कारण क्या हो सकता है? क्या वरदेनहल्ली के बच्चों को अपने घर, पड़ोस और स्कूल में संज्ञानात्मक चुनौतीपूर्ण गतिविधियों के कम अवसर और जानकारी मिलती है जैसे कि पढ़ना या घर के भीतर और बाहर के खेल खेलना? या फिर यह पोषण से सम्बधित मुद्दा है जिसकी शुरुआत बचपन से ही हो जाती है? 2007 का Lancet paper जिसका शीर्षक है Child development: risk factors for adverse outcomes in developing countries, यह बताता है कि विकासशील देशों में लाखों बच्चों के लिए स्कूल की तैयारी और उपलब्धि को चार खतरों से समझौता करना पड़ता है : अवरुद्ध विकास, अपर्याप्त संज्ञानात्मक उद्दीपन और आयोडीन की कमी व लोहे की कमी से एनीमिया।

पोषण, अवरुद्ध विकास और कार्यकारी कार्य के बीच का सम्बन्ध हमें महत्त्वपूर्ण लगता है। सी.एफ.एल. में

अण्डे, दूध और फल देने शुरू कर दिए गए और कुछ सालों के बाद सरकार ने भी ऐसी ही योजना शुरू की जो वाकई एक अच्छी बात थी। प्राथमिक स्कूल के शिक्षक भिन्न प्रकार की रोचक गतिविधियाँ करवा रहे हैं जिसका श्रेय उनकी सेवाकालीन कार्यशालाओं और शिक्षक के रूप में उनके अपने संवर्धन को जाता है। इतने सालों से अपने विद्यार्थियों के साथ काम करने के लिए समय देने के हमारे अनुरोध को जिस खुलेपन के साथ इन शिक्षकों ने स्वीकार किया उसके लिए हम उनके आभारी हैं—यह एहसास मुझे हाल के एक अनुभव से हुआ। पास के एक अन्य स्कूल में हमारे सीनियर छठी और आठवीं कक्षा के बच्चों के साथ अरविन्द गुप्ता के Pumps from the Dump पर कार्य कर रहे थे। वहाँ के नए प्रधानाध्यापक ने मुझसे कहा, "पुस्तक में से कुछ करवातीं तो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी होता। आप जो करवा रही हैं उससे तो उन्हें कोई सहायता नहीं मिलने वाली।" वरदेनहल्ली स्कूल के शिक्षकों ने कभी हमारे सत्रों के महत्त्व पर सवाल खड़े नहीं किए और आशा है कि हम उनके इस विश्वास के लायक हैं।

वरदेनहल्ली स्कूल के विद्यार्थियों के साथ अन्तःक्रिया के फलस्वरूप हमने बहुत कुछ सीखा और पाया। बच्चों ने बिना किसी शर्त के हमें अपना स्नेह दिया। उनका स्नेह, उनके अनुभवों की गहनता, सत्रों का उत्साह और उसकी इन बच्चों के साथ काम करते समय सी.एफ.एल. के विद्यार्थी भी इतना धैर्य और इतनी दया दिखाते हैं कि शायद एक–दूसरे के साथ भी न दिखाते हों। इस बात को समझने का उनके लिए यह एक अच्छा अवसर है कि हमें अन्य लोगों के अधिगम के लिए जिम्मेदार होना चाहिए।

**References**


1. In Brief. Executive Function: Skills for Life and Learning. www.developingchild.harvard.edu
2. Walker S P, Wachs T, Gardner J M, Lozoff B, Wasserman G A, Pollit G, Carter J A (2007). Child development: risk factors for adverse outcomes in developing countries. Lancet. 369: 145–57



**कमला मुकुन्दा** सेण्टर फॉर लर्निंग (www.cfl.in) में कार्यरत हैं जो शिक्षकों द्वारा चलाया जाने वाला एक छोटा स्कूल है और बेंगलुरु की सीमा पर स्थित है। उन्हें मनोविज्ञान और शिक्षा में रुचि है और इन क्षेत्रों के विचारों को शिक्षकों और शिक्षक–प्रशिक्षकों तक पहुँचाना भी उन्हें अच्छा लगता है। उन्होंने What Did You Ask at School Today? शीर्षक से एक पुस्तक लिखी है जिसे 2009 में Harper collins India द्वारा प्रकाशित किया गया। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'स्कूल में तुमने आज क्या पूछा ?' शीर्षक से एकलव्य ने प्रकाशित किया है। उनसे kamala.mukunda@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

# हमारी शिक्षा व्यवस्था में शिक्षकों की स्थिति[1]

विमला रामचन्द्रन

मैं पिछले पन्द्रह सालों से 'शिक्षक' के सवाल को लेकर जूझ रही हूँ। दुर्भाग्य से शिक्षकों और सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली में उनकी केन्द्रिकता को लेकर होने वाली बहस एक–दूसरे के बहुत विपरीत है। एक ओर तो प्रशासकों, शोधकर्ताओं और लेखकों का एक बड़ा समुदाय नियमित रूप से 'शिक्षकों की आलोचना' करता रहता है तो वहीं दूसरी ओर समान रूप से मुखर एक समुदाय और है जो विपरीत दृष्टिकोण अपनाता है। इस लघु लेख का उद्देश्य यह समझने की कोशिश करना है कि हमारी प्रणाली में शिक्षकों की क्या स्थिति है और यह क्यों और कैसे सरोकार का महत्त्वपूर्ण कारण है।

हम सभी यह जानते हैं कि मात्रा, गुणवत्ता और समता के संघर्ष में सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली को बदलने के लिए शिक्षकों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। पिछले तीन दशकों के अनुभव और शोध कार्यों से पता चला है कि अब संख्याओं का कोई महत्त्व नहीं है और शिक्षक प्रभावशीलता "स्कूल पर आधारित विद्यार्थी–अधिगम का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राक्सूचक है और कई वर्षों का लगातार उत्कृष्ट शिक्षण वंचित विद्यार्थियों के अधिगम की न्यूनता की भरपाई कर सकता है..." (Vegas और Ganimian, 2011[2])। वैश्विक स्तर पर जिन प्रमुख चुनौतियों का सामना कई देश कर रहे हैं उनमें से एक शिक्षक प्रभावशीलता से सम्बन्धित है, इसमें क्षमता (शैक्षिक योग्यता/ज्ञान), प्रेरणा और प्रबन्धन शामिल हैं। अन्ततः रस्साकशी बच्चों के अधिकारों (गुणवत्तापूर्ण शिक्षा हासिल करना), शिक्षकों के अधिकार (काम करने के हालात) और इन दोनों को सन्तुलित करने की प्रणाली की क्षमता को लेकर है (Cream Wright in Chikondi Mpokosa and Susy Ndaruhutse, 2008[3])।

प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों के काम करने की स्थिति पर एक शोध अध्ययन के सिलसिले में पिछले तीन वर्षों में मैंने बहुत विस्तृत रूप से यात्रा की और कई शिक्षकों और प्रशासकों से बात की। बड़ी शिद्दत से जो बात उभरकर सामने आई वह यह थी कि सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली शिक्षकों को सरकारी कर्मचारियों के रूप में देखती है जिनकी प्राथमिक निष्ठा प्रशासन के प्रति है। उन्हें एक ऐसे 'शिक्षक' के रूप में नहीं देखा जाता जो बच्चों को शिक्षित करने और उनकी देखभाल करने में लगे हों। समाज में पहले जो अद्वितीय स्थान एक शिक्षक का था वह धीरे–धीरे घटता जा रहा है और देश भर के शिक्षक भी आपको यही बताएँगे कि उनकी पेशेवर पहचान कहीं खो गई है। साथ ही जिस तरह से उनकी नियुक्ति की जाती है, उनका तबादला किया जाता है या प्रबन्धन किया जाता है उसकी वजह से वे प्रशासन और राजनेताओं के बदलते हुए व्यवहार की चपेट में आ जाते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात, पूरे भारत के शिक्षक आपको यह बताएँगे कि उनकी कोई स्वायत्तता नहीं है और अगर वे प्रशासन में अपने वरिष्ठ अधिकारियों के आदेश का पालन करें तो अधिकारी खुश रहते हैं। यह वाकई एक दुखद बात है, विशेष रूप से इस अप्रतिरोध्य वैश्विक साक्ष्य के आलोक में कि शिक्षक स्वायत्तता, पहचान, प्रेरणा और जवाबदेही आपस में जुड़े हुए हैं।

क्या सभी देशों में यही हाल है? पोलैण्ड, फिनलैण्ड, चीन, सिंगापुर और चिली जैसे देशों के अनुभवों के

---

[1]यह लेख विमला रामचन्द्रन, T Linden] T Beteille, एस. गोयल, एस. डे और पी.जी. चैटर्जी के नेतृत्व में किए गए हाल ही के एक अध्ययन पर आधारित है। 2015 forthcoming- Teachers in the Indian Education System- NUEPA- New Delhi। यह अध्ययन NUEP में Teacher Management and Development पर RGF Chair के तत्वावधान में राजीव गाँधी फाउण्डेशन की ओर से वित्तीय सहायता के साथ किया गया।

[2]Vegas, Emiliana Vegas and Ganimian, Alejandro J. August 2011. *What are the teacher policies in top performing and rapidly improving education systems?* SABER-teachers Background Paper No. 3. Washington DC

[3]Chikondi Mpokosa and Susy Ndaruhutse, 2008. Managing Teachers: The centrality of teacher management to quality education. Lessons from developing countries. CfBT and VSO, UK

अध्ययन से पता चलता है कि प्रणाली में शिक्षकों की जिस तरह की स्थिति होती है सफलता उसी पर निर्भर होती है। जो देश शिक्षा प्रणाली को फिर से जीवन्त करने में सक्षम हुए हैं वे कुछ मूल सिद्धान्तों का पालन करते हैं जैसेः

- पेशेवर पहचान बढ़ाने और काम करने के हालातों की बेहतरी के उद्देश्य पर आधारित मिश्रित रणनीतियों के माध्यम से सर्वश्रेष्ठ लोगों को शिक्षण के पेशे की ओर आकर्षित करना। केवल वेतन बढ़ाना पर्याप्त नहीं है।
- शिक्षकों को अच्छी तरह से तैयार करना, कक्षा के लिए अपेक्षित ज्ञान और कौशलों पर ध्यान देना। जरूरत के अनुसार सतत शिक्षा और प्रशिक्षण के अवसर प्रदान करना। अपने अधिगम की जरूरतों को पहचानने में शिक्षकों की मदद करना और समय पर तत्सम्बन्धी अवसर उपलब्ध कराना महत्त्वपूर्ण माना जाता है।
- शिक्षकों के लिए स्पष्ट अपेक्षाएँ नियत करना और उसे निरन्तर बनाए रखना क्योंकि अपेक्षाओं को बार–बार बदलने से शिक्षकों के मनोबल पर हानिकारक प्रभाव पड़ सकता है। साथ ही मूल्यांकन और प्रदर्शन की समीक्षा करने के लिए शिक्षकों, प्रधानाध्यापकों और प्रशासकों के लिए एक पारदर्शी प्रणाली स्थापित करना।
- विद्यार्थियों के साथ शिक्षक के कौशलों का मिलान करना जरूरी है–साथ में एक ऐसे प्रभावी प्रधानाध्यापक का होना भी जरूरी है जिसके पास अपने स्कूल की योजना बनाने की स्वायत्तता हो। जिन शिक्षकों का नेतृत्व ऐसे प्रभावी और प्रेरित प्रधानाध्यापक करते हों और जिन्हें कक्षा में नवाचार और प्रयोग करने की स्वायत्तता मिली हो, वे कक्षा में चमत्कार कर सकते हैं। वे प्रेरित होते हैं और उन्हें अपने कार्य पर बहुत गर्व भी होता है।
- और अन्त में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपने विद्यार्थियों की पढ़ाई पर नजर रखने की प्रक्रिया में शिक्षकों को शामिल करना चाहिए और इस बात में उनकी सहायता करनी चाहिए कि वे हर बच्चे की प्रगति को सुनिश्चित करें।

दुर्भाग्य से भारत में सार्वजनिक प्रणाली समस्याओं से भरी है। शिक्षक नियुक्ति की नीतियाँ तदर्थ हैं और एक सफल शिक्षक की नियुक्ति बहुत देर से और लम्बे अन्तराल के बाद होती है (कर्नाटक और तमिलनाडु जैसे राज्य इसके अपवाद हैं)। ज्यादातर राज्यों के पास यह पता लगाने के लिए एक नियमित या सामान्य प्रक्रिया नहीं है कि कितने शिक्षकों की आवश्यकता है और उनमें कौन–सी विशिष्ट योग्यताएँ या विशेषताएँ होनी चाहिए। कुछ राज्यों में नियुक्तियाँ राजनीतिक हितों से जुड़ी होती हैं जिसकी वजह से शिक्षकों की नियुक्ति, नियुक्ति की नीतियों के बजाय राजनीतिक रणनीतियों के समान लगती है। नियुक्ति का समय निर्धारण भी अपारदर्शी है। अदालत में शिक्षक–नियुक्ति से सम्बन्धित कई मामले चल रहे हैं जिससे भावी शिक्षक–उम्मीदवारों के मन में असुरक्षा की भावना आ जाती है। जिन राज्यों में नियुक्ति अपेक्षाकृत कम पारदर्शी है और योग्यता पर आधारित है (जैसे कि कर्नाटक और तमिलनाडु), वहाँ के स्कूलों में भी वास्तविक तैनाती काफी देर से होती है।

भारत में स्थानान्तरण की नीतियाँ कम ही दिखाई देती हैं। जहाँ कहीं वे हैं भी (हमारे अध्ययन के अनुसार कर्नाटक और तमिलनाडु में) तो वे हाल ही में बनी हैं। अधिकांश राज्यों में सामान्य स्थिति बहुत विक्षुब्ध करने वाली है –ज्यादातर स्थानान्तरण तदर्थ होते हैं। कई राज्यों के शिक्षक बताते हैं अपनी पसन्द के स्थानान्तरण के लिए (या अनिच्छित स्थानान्तरण रुकवाने के लिए) या जल्दी स्थानान्तरण करवाने के लिए शक्तिशाली सम्पर्क होना जरूरी है या फिर रिभवत देनी पड़ती है। कुछ राज्यों में राजनीतिक नेता औपचारिक रूप से स्थानान्तरण समिति का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ स्थानान्तरण तो राजनीतिक रूप से सहायक शिक्षकों के पक्ष में पुरस्कार स्वरूप किए जाते हैं। कुछ राज्यों में सामूहिक स्थानान्तरण कर दिए जाते हैं जिससे शिक्षकों में परेशानी और घबराहट की लहर दौड़ जाती है।

आर.टी.ई. अधिनियम का कहना है कि शिक्षक को निम्नलिखित कर्तव्यों का पालन करना चाहिए :

1. नियमित रूप से समय पर स्कूल आना चाहिए;
2. पाठ्यक्रम का संचालन और उसे पूरा करना चाहिए;
3. निर्धारित समय के भीतर पूरा पाठ्यक्रम समाप्त करना चाहिए;
4. प्रत्येक बच्चे की अधिगम–क्षमता का आकलन करके तदनुसार यदि आवश्यक हो तो अतिरिक्त अनुदेश देने चाहिए;

5. माता–पिता और अभिभावकों के साथ नियमित बैठकें आयोजित करके उन्हें बच्चे की उपस्थिति की नियमितता, सीखने की क्षमता, सीखने में हुई प्रगति और किसी भी अन्य प्रासंगिक सूचना से अवगत कराना चाहिए; और
6. किसी भी अन्य निर्धारित कर्तव्य का पालन करना चाहिए। पर इन कर्तव्यों को व्यावहारिक रूप से कर पाना एक ऐसी चुनौती है जिसे अभी भी पूरी तरह से सम्बोधित किया जाना है।

ज्यादातर राज्यों में निरीक्षण, फीडबैक और समर्थन या अनुपोषण की प्रणाली दुष्क्रियापूर्ण है। पिछले दो दशकों में निरीक्षण और समर्थन प्रणाली की तुलना में स्कूलों की संख्या का तेजी से विस्तार हुआ है। इस तरह के कार्यों को अंजाम देने के लिए बहुत कम अधिकारी और सीमित संसाधन हैं। प्रणाली शिक्षकों से यह अपेक्षा करती है कि वे पाठ्यक्रम में एक साल के लिए नियत सारे अध्याय 'सिखा' दें–और इसी को उनकी प्राथमिक जिम्मेदारी की पूर्णता माना जाता है। शिक्षकों को माता–पिता और बच्चों की अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए सशक्त नहीं किया जाता। किसी भी राज्य में प्रवेशन या अभिविन्यास कार्यक्रम नियमित रूप से नहीं चलाए जाते। हालाँकि सभी पदों के लिए दो साल का 'परिवीक्षाकाल' होता है जिसके बाद शिक्षक की नियुक्ति की पुष्टि की जाती है लेकिन व्यावहारिक रूप से इसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है। अधिकारी और शिक्षक यह बताने में असमर्थ हैं कि परिवीक्षाकाल में या बाकी समय में क्या होता है और शिक्षक से क्या अपेक्षा की जाती है।

सरकारी प्राथमिक स्कूलों के लगभग 42 प्रतिशत स्कूलों में प्राथमिक कक्षाओं के लिए केवल एक या दो शिक्षक हैं। राष्ट्रीय स्तर पर स्पष्ट नीति निर्देशों के बावजूद भी ये शिक्षक प्रभावी रूप से बहु–कक्षा शिक्षण करने के तरीकों से लैस नहीं हैं। एन.सी.एफ. 2005 का सुझाव है कि बहु–कक्षा शिक्षण के लिए शिक्षकों को काफी नियोजन करना चाहिए– लेकिन शिक्षक–शिक्षा की प्रक्रिया अभी भी बहु–कक्षा की स्थिति को असंगत मानती है।

कई शिक्षक अभी तक आर.टी.ई. द्वारा निर्धारित कई प्रावधानों के साथ समझौता नहीं कर पाए हैं जैसे 'फेल न करना' और 'कोई शारीरिक दण्ड न देना'। नौ राज्यों के शिक्षकों ने कहा कि इस तरह के प्रावधान उनके पेशेवर अधिकारों को आघात पहुँचाते हैं जिसने उनके कार्यों को कठिन बना दिया है। शिक्षक और वरिष्ठ अधिकारी फेल न करने की नीति की आलोचना करते हैं। वे कहते हैं कि इसके कारण विद्यार्थी पढ़ाई नहीं करते। दूसरी ओर शिक्षाविदों का कहना है कि जिस तरह से इस नीति की व्याख्या की गई है –समस्या उसमें है– क्योंकि फेल न करने की बात को अधिगम के परिणामों का गैर आकलन समझ लिया जाता है। हालाँकि शिक्षकों ने शारीरिक दण्ड देना कम कर दिया है लेकिन ऐसा वे मजबूरी की वजह से करते हैं न कि इसलिए कि उन्हें इस अवधारणा में विश्वास है।

प्रधान अध्यापक का पद विशेष रूप से मुश्किल है। जिन राज्यों में यह अध्ययन किया गया उनमें प्रधान अध्यापक/शिक्षक पद के कई स्थान रिक्त हैं। विद्यार्थियों की देखभाल, स्कूल के वित्तीय और प्रशासनिक रिकॉर्डों को बनाए रखना; आवधिक और गैर आवधिक रिपोर्टिंग; और शिक्षा विभाग के साथ सम्पर्क रखना आदि ये सभी कार्य प्रधान अध्यापक करते हैं। पिछले डेढ़ दशकों से मध्याह्न भोजन और भवनों के निर्माण जैसी गतिविधियाँ भी प्रधान अध्यापक की प्रमुख गतिविधियाँ बन गई हैं। स्पष्ट है कि इन सबके कारण उनके पास अकादमिक सहायता और पर्यवेक्षण के लिए कम समय बचता है। अधिकांश स्कूलों में प्रशासनिक, लेखा और सहयोगी स्टाफ के न होने से यह समस्या और बढ़ जाती है।

प्रधान अध्यापक और शिक्षकों की टीम को इस बारे में बोलने का कोई अधिकार नहीं होता कि उनके स्कूल में किसे नियुक्त किया जाना चाहिए। कई राज्यों में शिक्षकों ने हमें बताया कि जब उन्हें गणित के शिक्षक की जरूरत होती है तब उन्हें भाषा का शिक्षक दे दिया जाता है! परिणामस्वरूप (विशेष रूप से प्राथमिक स्तर पर) शिक्षकों से यह उम्मीद की जाती है कि वे सारे विषय पढ़ाएँ। किसी भी प्रकार के निर्णय में उन्हें सम्मिलित नहीं किया जाता, बस आदेश दे दिया जाता है और अपनी 'ड्यूटी' करने को कहा जाता है।

सबसे दुखद फीडबैक यह था कि जो लोग हमारे स्कूल का प्रबन्धन करते हैं, संसाधन मुहैया कराते हैं और वहाँ पढ़ाते हैं, उन्हीं को सरकारी स्कूल प्रणाली में अधिक विश्वास नहीं था। हम जितने भी शिक्षकों, व्यवस्थापकों या शिक्षक–प्रशिक्षकों से मिले उनमें एक भी अपने बच्चों या नाती–पोतों को सरकारी स्कूल में पढ़ने नहीं भेजता था! जब हम अपने स्कूलों, अपने शिक्षकों और

अपने बच्चों के अधिगम के बारे में बात करते हैं तो पाते हैं कि देश भर में एक व्याकुलता की भावना है, निराशा की भावना है। लेकिन फिर भी ज्यादातर राज्यों में शिक्षक यह कहते हैं कि उनकी कुल स्थिति और काम करने की स्थिति में सुधार हुआ है। पिछले बीस वर्षों में स्कूल के और सामान्य बुनियादी ढाँचे (सड़कें, संचार, बिजली पानी) में महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई है। सरकार ने शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात, शिक्षण–अधिगम सामग्री के प्रावधान और पुस्तकालय व पुस्तकों की उपलब्धता की ओर भी ध्यान दिया है। छठे वेतन आयोग के बाद शिक्षकों का वेतन भी बढ़ा है। कई राज्यों ने अनुबन्धित–शिक्षक–नीतियों को बदल दिया है और अब वे सभी शिक्षकों को नियमित करने में लगे हुए हैं।

ये सभी जरूरी और महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षकों का दर्जा घटता जा रहा है। हमने सभी स्तरों पर यह देखा कि शिक्षकों को सरकारी कर्मचारी के रूप में पदानुक्रमिक प्रणाली के सबसे निचले स्तर पर देखा जाता है। अपनी प्रशासनिक भूमिका के आधार पर अधिकारीगण श्रेष्ठता की भावना दिखाते हैं। शिक्षकों और प्रशासकों के बीच का सम्बन्ध विवादपूर्ण है जहाँ दोनों चाहते हैं कि प्रणाली उनके पक्ष में कार्य करे। शायद यही कारण है कि शिक्षक प्रशासनिक पदों पर पदोन्नति के लिए उत्सुक रहते हैं।

एक ओर तो लगता है कि बहुत कुछ बदल गया है। सभी राज्यों ने आर.टी.ई. द्वारा प्रस्तावित अध्यापक पात्रता परीक्षा (टी.ई.टी.) को अपना लिया है। लेकिन यह समझना सम्भव नहीं था कि इससे सरकार को ऐसे शिक्षकों की नियुक्ति में मदद मिलती है या नहीं जिन्हें अपने विषय के ज्ञान और शिक्षण शास्त्र में महारत हासिल हो। इसके अलावा जिन नौ राज्यों में अध्ययन किया गया वहाँ सेवा पूर्व प्रशिक्षण अभ्यासों, पाठ्यक्रम सुधार और सेवा पूर्व शिक्षण प्रशिक्षण संस्थानों के आकलन के लिए टी.ई.टी. के परिणामों का उपयोग करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। अलग–अलग राज्यों में टी.ई.टी. की अपनी गुणवत्ता के बारे में बहुत कम जानकारी है : क्या ये टेस्ट स्पष्ट रूप से लिखे गए हैं, क्या टी.ई.टी. ज्ञान और कौशल का सही तरीके से परीक्षण करता है जिसका वह दावा करता है और क्या वह समय के साथ–साथ लगातार ऐसा कर पाता है?

शिक्षकों की प्रभावशीलता का अन्तिम परीक्षण यह है कि क्या उनके द्वारा पढ़ाए गए सभी बच्चे अपनी शैक्षिक क्षमता तक पहुँचने में सक्षम हैं। शिक्षक सर्वाधिक प्रभावी तरीके से पढ़ाते हैं या नहीं, यह बात नीतियों और कार्यप्रणालियों के एक जटिल ढाँचे से निर्धारित होती है। शिक्षकों को दोष देना शायद आसान है, कठिन बात तो स्कूलों के लिए स्वायत्तता सुनिश्चित करने के लिए प्रणाली के साथ काम करना और साथ ही एक ऐसी प्रक्रिया चलाना है जिसमें शिक्षक, प्रधान अध्यापक/प्राचार्य और प्रशासन अपने कार्यों का मूल्यांकन करें और उन्हें बच्चों के लिए जवाबदेह ठहराया जा सके।

**विमला रामचन्द्रन** शैक्षिक अनुसन्धान इकाई, नई दिल्ली में कार्यरत हैं। वे महिला समाख्या (महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा) की संकल्पना में शामिल थीं और मानव संसाधन विकास मंत्रालय में 1988 से 93 तक प्रथम राष्ट्रीय परियोजना निदेशक के रूप में कार्यरत रहीं। उन्होंने 1988 में शिक्षा के क्षेत्र में शोध करने वालों और पेशेवरों के नेटवर्क के रूप में शैक्षिक अनुसन्धान इकाई यानी Educational Resource Unit (अब इसे ERU Consultants Private Limited कहा जाता है) की स्थापना की। वे NEUPA में राष्ट्रीय फेलो और शिक्षक प्रबन्धन और विकास की प्रोफेसर रह चुकी हैं। वे प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी शोध कार्यों में लगी हुई हैं और उनका ध्यान लिंग और समता के मुद्दों, शिक्षक की स्थिति और प्रेरणा, प्राथमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय नीतियों की समता के लक्ष्यों और कार्यक्रमों को साकार करने में आने वाली बाधाओं, वयस्क साक्षरता और सतत शिक्षा पर है। वे वर्तमान में स्कूल न जाने वाले युवाओं – विशेष रूप से लड़कियों – की शैक्षिक आवश्यकताओं के शोध में लगी हुई हैं। उनसे vimalar.ramachandran@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# स्वैच्छिक शिक्षक मंच : एक यात्रा का अनुभव (राजस्थान)

अभिषेक सिंह राठौड़

## पृष्ठभूमि और इतिहास

स्वैच्छिक शिक्षक मंच का विकास कुछ संगठनात्मक प्राथमिकताओं, शिक्षक समुदाय के सरोकारों और संयुक्त पहल पर आधारित है। 2009 में हम एक संगठन के रूप में टोंक और सिरोही जिले में कार्य कर रहे थे। उन्हीं दिनों राजस्थान में शिक्षकों के लिए पूरी अकादमिक समर्थन प्रणाली को समाप्त कर दिया गया था जिसमें खण्ड संसाधन केन्द्र और संकुल संसाधन केन्द्र भी निहित थे। ऐसी परिस्थिति में हम लोग शिक्षकों के पेशेवर विकास के वैकल्पिक तरीके खोज रहे थे। हम सोच रहे थे कि ऐसा क्या करें जो वैचारिक रूप से अलग हो, जो मुख्य रूप से शिक्षकों द्वारा संचालित हो, जो यह मानता हो कि शिक्षक वर्ग सोचने–विचारने वाला वर्ग है और जिसमें औपचारिक सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों वाली समस्या न हो। इसके लिए हमने ऐसे शिक्षकों को मंच प्रदान करने का निर्णय लिया जो स्व–आत्मविश्लेषी हों और इस मंच पर वे अपने विचार साझा कर सकें, सवाल पूछ सकें और एक–दूसरे से सीख सकें। मुख्य विचार यह था/है कि शिक्षकों को स्कूल में चलने वाली शिक्षण–अधिगम की प्रक्रिया से सम्बन्धित सभी मुद्दों पर बात करने के लिए स्थान उपलब्ध कराया जाए। इसलिए हमने शिक्षकों के लिए स्वैच्छिक स्थान बनाने का फैसला किया।

मालपुरा (टोंक, राजस्थान) में ऐसे शिक्षकों का एक समूह भी था जिसके कुछ सामान्य सरोकार थे। ये शिक्षक सेवाकालीन कार्यक्रमों से तंग आ चुके थे लेकिन अपने कक्षा सम्बन्धी अनुभवों को बाँटना चाहते थे। हालाँकि ऐसा लग सकता है कि सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली में ऐसे शिक्षकों का मिलना लगभग असम्भव है लेकिन हमें विश्वास है कि हर प्रणाली में कुछ अच्छे व्यक्ति होते हैं। हमने उन शिक्षकों के साथ शिक्षक मंच की यात्रा शुरू कर दी और अब ये उन सातों राज्यों में मौजूद हैं जहाँ हम कार्य कर रहे हैं और हमारे शिक्षक पेशेवर विकास की कुंजी हैं।

## संकल्पना और प्रक्रिया

चूँकि यह साझे सरोकार का विषय था इसलिए कार्यवाही भी संयुक्त रूप से हुई। फाउण्डेशन की टीम ने शिक्षकों के साथ विचार–विमर्श करने में मदद की ताकि एक निश्चित आधार और प्रचालन के सिद्धान्तों तक पहुँचा जा सके और इन्हीं पर हमने इन मंचों की नींव रखी। उस समय तय किए गए आधार और संचालन के सिद्धान्त इस प्रकार हैं :

- शिक्षक मंच की संकल्पना एक स्वयं सहायक समुदाय, एक समूह के रूप में की गई जो अपने व्यावसायिक विकास की जिम्मेदारी खुद लेता है।
- यह एक अनौपचारिक मंच है जहाँ शिक्षक मिल सकते हैं और अपनी दिन–प्रतिदिन की कक्षाओं के अनुभव, समस्याओं, सफलताओं और उपलब्धियों के बारे में बातचीत कर सकते हैं।
- इस मंच की केन्द्रीय धारणा यह है कि यहाँ कोई पूर्ण विशेषज्ञ नहीं है जो समूह को हर बात का समाधान दे सके या उसकी जरूरतों को पूरा कर सके। यहाँ तो हर सदस्य को सामूहिक समाधान प्राप्त करने के लिए एक साथ कार्य करना चाहिए।
- यहाँ जो समस्याएँ उठाई जाती हैं उनकी प्रकृति सैद्धान्तिक या परिकल्पित नहीं होती, ये तो ऐसी प्रबल समस्याएँ हैं जिन्हें हर सदस्य सुलझाना चाहता है ताकि उसकी कक्षा अधिक प्रभावपूर्ण और समावेशी बन जाए।
- शिक्षक मंच एक लोकतांत्रिक मंच है जहाँ विभिन्न प्रतिभागियों के बीच कोई पदानुक्रम नहीं है। सभी मुद्दों पर हर किसी की बराबर की हिस्सेदारी है और वे अपनी सत्ता या पद की बजाय अपने तर्क या विवेक से किसी चर्चा या बातचीत को प्रभावित कर सकते हैं।
- समूह ही इस बात को तय करता है कि कब मिलना

चाहिए, कहाँ मिलना चाहिए, किस विषय पर चर्चा होनी चहिए और मंच को आगे कैसे ले जाना चाहिए। मंच समूह के द्वारा निर्णीत मानदण्डों के आधार पर कार्य करता है।

- समूह में केवल वही शिक्षक होंगे जिन्हें अपनी रुचि के कारण साथ में काम करने की जरूरत महसूस हुई हो, भले यह संख्या कम ही क्यों न हो।
- टी.ए. या डी.ए. के रूप में कोई वित्तीय लाभ नहीं दिया जाएगा, शिक्षक स्वयं के खर्चे पर आएँगे और एक ऐसे स्थान का चुनाव करेंगे जो उनके लिए सुविधाजनक हो और उन्हें आने–जाने में आसानी हो।
- सभी मुद्दों पर चर्चा करने के लिए शायद 2–3 घण्टे काफी न हों। जिन मुद्दों पर और गहराई और विस्तार से चर्चा करनी हो उनके लिए आवासीय शिक्षक मंच की व्यवस्था की जा सकती है।

**शिक्षक समुदाय के साथ मिलकर इन आधारों और सिद्धान्तों को विकसित करने में एक साल लगा और साथ ही शिक्षक मंच भी चलते रहे।**

### यह सक्रिय और सफल क्यों है?

देश में वर्तमान शिक्षा के परिदृश्य में कई बातें इतनी त्रस्त करने वाली, निराशाजनक और अवसादकारी हैं कि इस शिक्षक मंच जैसी कोई भी पहल सन्देहपूर्ण और अविश्सनीय लगती है। आज देश भर में इस मंच के 10000 से भी ज्यादा सदस्य हैं जो इसकी लोकप्रियता और सफलता का द्योतक है। जब विभिन्न मंचों में इन मंचों का जिक्र होता है तो लोगों को यकीन ही नहीं आता और वे अक्सर यह सवाल पूछते हैं कि इसके पीछे शिक्षकों की प्रेरणा क्या है?

**1. कार्य और आदर का प्रतिदान करना :** एक सामाजिक रचना के रूप में पारस्परिकता का मतलब है कि मित्रवत व्यवहार के जवाब में अक्सर लोग, आत्म–हित मॉडल से भी ज्यादा अच्छा और सहकारितापूर्ण व्यवहार करते हैं; इसके विपरीत शत्रुतापूर्ण कार्यवाही के जवाब में वे अक्सर बुरे और क्रूर बन जाते हैं। जब आप देखते हैं कि एक ही शिक्षक समुदाय के लोग अपने सहयोगियों के पेशेवर विकास के लिए कदम बढ़ा रहे हैं तो आपकी सहज प्रवृत्ति यही होती है कि आप भी अपनी ओर से कुछ योगदान करें; और कुछ नहीं तो इस मंच में भाग ही ले लें। हमने देखा है कि जो शिक्षक कक्षा में कुछ अच्छा कार्य करते हैं वे उसके लिए सम्मान चाहते हैं। इन मंचों का मूल तत्व पारस्परिकता और आदर भाव है।

कुछ वर्ष पहले जब ग्रीस और तुर्की में भूकम्प आया तो दोनों देशों के बीच परस्पर स्वैच्छिक सहायता का आदान–प्रदान हुआ। इस स्वैच्छिक सहभागिता ने भावी आपदाओं के सम्बन्ध में इन दोनों देशों के बीच एक सहमति ज्ञापन को प्रेरित किया।

ग्लोबल रिसर्च – स्वयं सेवा और क्षमता विकास (2002)

उदाहरण के लिए एंडीज में mingas orfaenas ऐसे पारम्परिक तरीके हैं जो आमतौर पर अच्छे कार्यों के लिए श्रम साझा करने के लिए हैं। रिकॉर्ड बताते हैं कि इस प्रकार के पारस्परिक श्रम पिछली कई सदियों से चले आ रहे हैं।

ग्लोबल रिसर्च – स्वयं सेवा और क्षमता विकास (2002)

**2. अपने पेशे के लिए एकजुटता दिखाना :** हर समुदाय में अच्छे लोग होते हैं और शिक्षक समुदाय इसका अपवाद नहीं है। कुछ समय पहले मालपुरा में ऐसा ही एक मंच आयोजित किया गया था और यही सवाल शिक्षकों से पूछा गया कि आप किस प्रेरणा से ऐसे समूह शुरू करते हैं? एक शिक्षक ने बड़ा अद्भुत जवाब दिया : मेरे यहाँ आने के तीन कारण हैं "विषय के प्रति ईमानदारी, पेशे के प्रति ईमानदारी और देश के प्रति ईमानदारी"।

**3. आपसी सरोकार** : शिक्षकों द्वारा दिखाए गए सरोकारों की बुनियाद पर ही मंच की रचना की गई है और हम भी उनके साथ यही सरोकार साझा करते हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं जिनसे यह साबित होता है कि आपसी सरोकारों द्वारा संचालित पहल अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेती हैं।

**4. गर्व, पहचान और छवि** : स्वैच्छिक शिक्षक मंच पर हमारे हाल के शोध के प्रारम्भिक निष्कर्ष इंगित करते हैं कि शिक्षकों का यह मानना है कि इससे उन्हें अपनी खोई हुई पहचान और छवि को पुनः प्राप्त करने में मदद मिल रही है। हमारे शोध में कई शिक्षकों ने यह भी सूचित किया कि ऐसे मंच का हिस्सा बनना शिक्षण समुदाय और जिला प्रशासन में अच्छा माना जाता है।

**अन्ना हजारे आन्दोलन जैसे मुद्दों पर शिक्षकों की चर्चा यह इंगित करती है कि यह समूह बहुत परिपक्व हो चुका है और बड़े सामाजिक मुद्दों की समझ बना चुका है।**

### सीखना/ महत्त्वपूर्ण गुणधर्म

हमारी टीम और शिक्षक लगातार इस बात पर चर्चा/ चिन्तन कर रहे हैं कि वे कौन–सी विशेषताएँ हैं जिनकी वजह से ये मंच फल–फूल रहे हैं और अनवरत आगे बढ़ रहे हैं। आपस में नियमित रूप से पर्याप्त चर्चा के बाद हमने उन कारकों/विशेषताओं की पहचान की है जो इन मंच के पीछे काम कर रही हैं –

**1. प्रतिबद्धता और विश्वास** : हमने अनुभव किया है कि जिन मंचों में ऐसे मूलभूत सदस्य थे जो प्रतिबद्ध थे और सबकी भलाई के लिए सामूहिक कार्यवाही में विश्वास करते थे, वहाँ लोगों की क्षमताओं में स्पष्ट फर्क देखा जा सकता है।

**2. अपनेपन की भावना और पहल** : जो मंच शुरू में फाउण्डेशन और शिक्षकों द्वारा संयुक्त रूप से प्रारम्भ किए गए थे उन्हें अब शिक्षक ही चला रहे हैं। जबकि जिन मंचों को शुरू करने में हमारी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी वहाँ यह चीज देखने में नहीं आई। जहाँ–जहाँ हम संयुक्त रूप से स्वत्व की भावना का निर्माण करने में नाकाम रहे वहाँ हम शिक्षकों के साथ चर्चाएँ कायम रखने में भी असफल रहे।

**3. संसाधन जुटाना** : यह कारक मंच की निरन्तरता सुनिश्चित करने में महत्त्वपूर्ण रहा। जिन मंचों में ज्यादा स्थानीय संसाधन (संसाधक, टी.एल.एम., विषय–सामग्री) जुटाए गए वे अधिक नियमित हैं बनिस्पत उनके जिन्होंने अनावश्यक रूप से फाउण्डेशन पर निर्भर रहने की बात सोची।

**4. संचालन की गुणवत्ता** : 2011 में हमें पता लगा कि शिक्षकों की मंचों में उपस्थिति कम होती जा रही है। इसके दो कारण हो सकते हैं – *अ) चर्चाएँ अच्छी तरह से संरचित नहीं थीं और हर मंच की तैयारी भी ठीक नहीं थी। ब) अब शिक्षक चाहते थे कि हम पहले की तुलना में एक स्तर ऊपर उठकर कार्य करें।*

संचालन की गुणवत्ता दो महत्त्वपूर्ण बातों पर निर्भर होती है : मॉड्यूल की तैयारी और गुणवत्ता और संसाधक की गुणवत्ता। हमने देखा कि जब हमने इन दोनों बातों का ध्यान रखा तो यह समस्या जल्द ही हल हो गई। इन मंचों की सफलता के लिए यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है।

**5. आवासीय शिक्षक मंचों/ कार्यशालाओं में मुद्दों की वृद्धि** – वैसे तो मुद्दों पर चर्चा करने के लिए 2–3 घण्टे का समय काफी होता है लेकिन सारे मुद्दे ऐसे नहीं होते जिन पर सीमित समय में चर्चा कर ली जाए। कुछ मुद्दों पर चर्चा करने के लिए अधिक शैक्षिक दृढ़ता और समय की आवश्यकता होती है। इसका ध्यान रखते हुए हमने आवासीय शिक्षक मंच की संकल्पना की अन्यथा इस तरह के मुद्दों पर कार्यशालाओं में विचार–विमर्श किया जाता है।

उनियारा ब्लॉक (टोंक, राजस्थान) के शिक्षक अक्सर एक–दूसरे की कक्षाओं का अवलोकन करते हैं और उन पर विचार–विमर्श करते हैं। हम चाहते हैं शिक्षक इस तरह के प्रगतिशील विचारों को सामने रखें और उन पर कायम रहें।

**अभी तो मीलों दूर जाना है...**

जिस तरह से यह पूरा विचार उभरकर सामने आया वह बहुत रोमांचक और चुनौतीपूर्ण तो था लेकिन यथार्थ के धरातल पर यह सफल भी हुआ। वर्तमान में स्वैच्छिक शिक्षक मंच जिले में शिक्षकों के पेशेवर विकास के लिए हमारी रणनीति का अभिन्न अंग हैं। भविष्य में हमें इन सवालों के जवाब ढूँढ़ने हैं कि इन्हीं विचारों के साथ हम अधिक शिक्षकों तक कैसे पहुँचें, समूह की विविध आवश्यकताओं को कैसे पूरा करें और वैसे तो कई शिक्षक अपनी कक्षा में नए–नए प्रयोग करते हैं लेकिन हम यह कैसे सुनिश्चित करें कि सभी शिक्षक अपने स्कूल में शिक्षण–अधिगम के रचनात्मक तरीकों का प्रयोग कर रहे हैं। हमें स्वैच्छिक शिक्षक मंच की अवधारणा में पूरा विश्वास है और हम यह भी मानते हैं कि यह शिक्षक पेशेवर विकास को आगे बढ़ाने के एक अच्छे तरीके के रूप में उभरेगा। हमारे पास इस विश्वास के लिए अच्छे कारण हैं।

**अभिषेक सिंह राठौर** 2006 से अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के साथ जुड़े हुए हैं और उन्होंने कम्प्यूटर एडेड लर्निंग, वर्कबुक विकास, शोध, बड़े पैमाने पर शिक्षार्थियों का आकलन और शिक्षकों, प्रधान शिक्षकों तथा शिक्षा पदाधिकारियों के पेशवर विकास के क्षेत्र में योगदान दिया है। उन्होंने टोंक, राजस्थान में फाउण्डेशन के जिला संस्थान और अज़ीम प्रेमजी स्कूल का विकास और नेतृत्व किया है। सम्प्रति वे राज्य संस्थान, राजस्थान, अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन का नेतृत्व कर रहे हैं। उनसे abhishek@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# स्कूल तेरे कितने नाम...

राहुल मुखोपाध्याय और अर्चना मेहेंदले

भारत में विश्व स्तरीय विश्वविद्यालयों की बात अभी दूर का सपना हो सकती है लेकिन हमारे आसपास ही ऑक्सफोर्डों, केम्ब्रिजों और स्टैनफोर्डों का संसार बसा हुआ है जो अपनी विलक्षणता के लिए नहीं वरन बहुलता के लिए विशिष्ट कहलाते हैं। यहीं पर अनेक असाधारण लोकप्रिय हस्तियाँ भी हैं – विवेकानन्द, मार्टिन लूथर, मैक्स मूलर, अरोबिन्दो, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, इन्दिरा प्रियदर्शिनी, नेहरू, मदर टेरेसा, आइजेक न्यूटन, अल्फ्रेड नोबल, राजीव गाँधी, एनी बेसेंट और हाँ एक नाम और जिसने हमारे 'शिक्षा के माध्यम' की मौजूदा विडम्बना को प्रभावित किया और वह नाम है मैकाले। जी हाँ, ये वास्तव में उन निजी स्कूलों के नाम हैं जो बेंगलुरु और उसके आसपास के शैक्षिक परिदृश्य में छितरे हुए हैं। हमें इनके बारे में एक अध्ययन के दौरान पता चला।

हालाँकि 'वैश्वीकरण या globalisation' को अभी भी यह साबित करना है कि इसका प्रभाव 'पिरामिड के नीचे तक' पहुँचा भी है या नहीं, लेकिन हमारे रोजमर्रा के जीवन में इसके प्रतीकात्मक महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। हमारे चारों ओर तेजी से पनपते ये निजी स्कूल इस ज्ञान से अनजान नहीं हैं। इस प्रकार, 'ग्लोबल' और 'इण्टरनेशनल' जैसे शब्द इन निजी स्कूलों के नामों के न केवल प्रमुख और सहायक निरूपक बन जाते हैं बल्कि एक ऐसा साधन भी बन जाते हैं जिसके माध्यम से माता–पिता की आकांक्षाओं को 'वैश्वीकरण' के वादे की ओर ले जाया जा सके। अक्सर यही आकांक्षाएँ नामों में प्रकट हो जाती हैं जो बड़ी स्पष्टता से यह बताते हैं कि उनकी स्कूली प्रक्रिया किस प्रकार से विद्यार्थियों को निश्चय ही 'न्यू मिलेनियम' का नागरिक बनने की ओर उन्मुख करेगी और 'ब्राइट', 'ब्रिलियंट', 'एक्सेलेंट', 'मग्निफीक' (शायद अँग्रेजी को लेकर हमारा जुनून काफी नहीं था!) और 'कॉन्फिडेंट' 'फ्यूचर' की ओर ले जाएगी। पर कभी–कभी 'वैश्विक' बल को ही अपने आप में पर्याप्त नहीं समझा जाता और उसे सन्तुलित करने के लिए उन भावनाओं की गुहार लगाई जाती है जो धार्मिक और राष्ट्रवादी पुनरुत्थानवाद का समर्थन करते हों। उनके साथ 'गुरुकुल' 'नव भारत' या 'जय हिन्द' जैसे सह–निरूपक जोड़ दिए जाते हैं और यह अपेक्षा की जाती है कि वे हमारे गौरवशाली अतीत तथा उसकी उपलब्धियों का आह्वान करेंगे।

दुर्भाग्य से 'वैश्विक' हमें अपने अतीत की औपनिवेशिक भावनाओं से उबरने में मदद नहीं करता – उस भाषा के सन्दर्भ में भी जो हाल के दशकों में आर्थिक और सांस्कृतिक 'पूँजी' का साधन बन गई है और उस सन्दर्भ में भी जिसमें हम औपनिवेशिक प्रतीकात्मक आदेश को सतत श्रद्धांजलि देते आ रहे हैं। इसलिए निजी गैर सहायता प्राप्त स्कूलों (जिन्होंने शिक्षा के माध्यम के रूप में कन्नड़ भाषा का अनुमोदन करके मान्यता प्राप्त की है) में भी अपनी वर्नाकुलर भाषा की नाममात्र की जड़ों के साथ में, बाजार की भाषा का सम्मान करते हुए, 'इंग्लिश' या 'कॉन्वेंट' शब्द लगा होता है। इसलिए किसी ऐसे 'विद्यापीठ' का मिलना कठिन नहीं होगा जो अपने नाम में शायद सर्वश्रेष्ठ भारतीय परम्पराओं व भारतीय संस्कृति को कायम रखता हो – और साथ ही आज के बाजार की इच्छित भाषा 'अँग्रेजी' को भी अपने साथ जोड़ लेता हो। इसी तरह कई निजी स्कूल अपने नाम के साथ 'पब्लिक स्कूल' लगाने से झिझकते नहीं हैं। वैसे यह बात और है कि उनके अभिविन्यास या रोजमर्रा के संचालन में 'पब्लिकपन' का कोई स्पष्ट लक्षण देखने को नहीं मिलता। 'पब्लिक' के इस अर्थ का सार ब्रिटिश पब्लिक स्कूल प्रणाली में निहित है; जो एक स्पष्ट निजी स्कूल प्रणाली है और जो कुलीन अल्पसंख्यक वर्ग के लिए है। इसमें आश्चर्य नहीं कि उत्तर औपनिवेशिक राज्य हमारे स्कूलों में शिक्षण के माध्यम का प्रभावी रूप से लोकतंत्रीकरण करने में तो असफल रहा ही है, साथ ही हमारी स्कूल प्रणाली में से 'विशिष्टता' के चिह्नों को मिटाने के अपने प्रयास में भी असमर्थ रहा है।

देश भर के निजी स्कूल अपने स्कूल का नामकरण करने के लिए कई रणनीतिक तरीके प्रयोग में लाते हैं ताकि वे शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में तेजी से बढ़ते हुए इसी प्रकार के अन्य स्कूलों से अलग पहचाने जा सकें। शिक्षा

के नए बाजार में स्कूल का नाम सिर्फ संस्थागत पहचान को परिभाषित करने की आवश्यकता से परे चला जाता है। असल में यह तो एक ऐसे साधन के रूप में काम करता है जो ब्रांड आइडेंटिटी स्थापित करे, क्योंकि भ्रमित किन्तु उत्सुक उपभोक्ता माता–पिताओं को लुभाने के लिए यह आवश्यक है। सामान्य रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में स्कूलों के बारे में व्यवस्थित, सम्पूर्ण, पारदर्शी और विश्वसनीय जानकारी की कमी होती है इसलिए स्कूल का नाम उसकी गुणवत्ता को पहचानने का एक ठोस कारक बन जाता है। निस्सन्देह अपने आपको अद्वितीय बताने की ललक में निजी स्कूल विविध प्रकार के नामों के बारे में सोचते हैं। जैसा कि हमने देखा कि विकल्प तो असीमित हैं, 'ग्लोबल' के जाने–पहचाने विकल्प या विश्वस्तरीय ख्याति प्राप्त शैक्षिक संस्थाओं के नामों को सीधे अपना लेना और या फिर विविध धारणाओं वाले राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा साम्प्रदायिक राजनीतिक व्यक्तियों और राष्ट्रकर्मियों के नाम पर अपने स्कूल का नामकरण करना। निजी स्कूलों के नामकरण में इस विशाल 'विकल्प' की तुलना अधिकांश सरकारी स्कूल के नामों के दो प्रमुख निरूपकों के साथ करना दिलचस्प होगा। ये दो निरूपक हैं 'सरकारी' जो इन स्कूलों के सार्वजनिक स्वत्व को दिखाता है और उस 'इलाके' का नाम जहाँ वह स्कूल स्थित है। इस तुलना में कुछ बातें साफ नजर आती हैं।

पहली, किसी भी प्राइवेट स्कूल के नाम में 'प्राइवेट' शब्द निरूपक के रूप में नहीं आता और वे 'पब्लिक' के आह्वान के माध्यम से अपने 'प्राइवेट' लक्षण को छिपा भी सकते हैं – 'पब्लिक' एक ऐसा निरूपक जिसकी व्युत्पत्ति अस्थिर है विशेष रूप से तब जब हम भारतीय स्कूल प्रणाली में इसका उपयोग करने पर आते हैं। दूसरी ओर, सरकारी स्कूलों का पब्लिक स्वत्व, जिसे स्थानीय समुदाय के लिए ऊर्ध्वगामी जवाबदेही तंत्र के माध्यम से बनाया जा सकता था लेकिन 'सरकार' के अपने स्कूलों पर अधोमुखी नियन्त्रण के प्रभाव के कारण ऐसा नहीं हो पाया। दूसरी बात, निजी स्कूलों के सामने नामकरण के ये 'विकल्प' और कुछ नहीं सिर्फ बाजार तंत्र द्वारा निर्देशित 'विकल्प' की एक धारणा है। ऐसी धारणा जो सामाजिक प्रवाह में प्रबलित होकर अक्सर इस प्रकार के स्कूलों में परिणत होती है और एक ऐसी धारणा जिसे वर्तमान स्कूल प्रणाली के पुनरुद्धार के लिए बाजार का समर्थन मिलता है। इसके विपरीत सरकारी स्कूलों को 'इलाके' के सीमित दायरे के भीतर बढ़ना और कायम रहना पड़ता है। उनके पास किसी और कल्पना शक्ति की गुहार लगाने की स्वतंत्रता भी नहीं होती कि जो इस तरह के स्कूल को विशिष्ट बना सके जैसे कि संस्कृति, व्यक्तित्व या फिर इतिहास। लेकिन कल्पना की यही कमी 'पब्लिक' स्कूलों का गैर विशिष्ट लक्षण है। ये स्कूल जनता के हितों के लिए बने हैं और उनकी पूर्ति भी करते हैं। हालाँकि 'इलाके' की पूरी क्षमता शायद सामान्य स्कूल प्रणाली के नाकाम सपने में अधूरी ही पड़ी हुई है।

शायद अब वक्त आ गया है कि हम यह पूछें कि 'प्राइवेट स्कूलों के लिए 'पब्लिक' होने का क्या मतलब है। यह एक ऐसा सवाल है जो 2009 के अनिवार्य शिक्षा का अधिकार आधिनियम के तहत 25% का प्रावधान उठाने की कोशिश करता है, जबकि ये स्कूल अपने अन्तःस्थापित और प्रचारित गुणों के मामले में और कुछ भी हों 'पब्लिक' तो नहीं हैं। शायद यही वह समय है जब हमें यह भी पूछना चाहिए कि 'सरकारी' स्कूलों के लिए 'पब्लिक' होने का क्या मतलब है, एक ऐसा सवाल जो देश के बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा दे पाने की इसकी क्षमता के बारे में व्यापक सरोकार से जन्म लेता है। सम्भवतः अब यह पूछना भी सही होगा कि निजी स्कूलों द्वारा स्थापित विभिन्न विकल्प, इच्छित आदर्श और विशिष्ट पहचान आदि हमारे वैभिवक समाज में 'पब्लिक' और 'प्राइवेट' शिक्षा के उद्देश्यों बीच सन्तुलन कैसे करेंगे।

शायद इसका जवाब बेतुके छन्दों के माहिर लेखक सुकुमार रे की कुछ बदलकर प्रस्तुत की गई इन विचारोत्तेजक पंक्तियों में मिल सके :

"वे दावा करते हैं कि (नाम) मेरा है – शायद आप खुद को अपने नाम का मालिक समझते हैं!

लेकिन यह (नाम) मालिक है (स्कूल का), मेरे दोस्तो – उसी से तो (स्कूल) जाने जाते हैं।"[i]

इसमें शक नहीं कि नामों का प्रतीकात्मक महत्त्व है जिसके द्वारा व्यक्तियों या संस्थाओं का स्वत्व बढ़ता है।

---

[i] सुकुमार रे की Mustache Thievery के मूल अनुवाद की पंक्तियाँ इस प्रकार से हैं : "They claim the mustache is mine—as though it's something you can own! The mustache owns the man, my friends—that's how we all are known."

यह अनुवाद http://www.parabaas.com/translation/database/translations/poems/sukumar_mustache.html से लिया गया है।

लेकिन स्कूल के नामों के चयन का महत्त्व इस बात में है कि या तो बाजार के भौतिक मूल्यों से कुछ लेने की सम्भावना हो या फिर उन सांस्कृतिक मूल्यों से जो शिक्षा को 'पब्लिक' की भलाई के रूप में समझते हों। भारत में निजी और सार्वजनिक दोनों स्कूलों को इस बारे में फिर से बहुत सोचना है कि *स्कूल का नाम भले ही कुछ भी हो*, लेकिन क्या वह शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी कार्य कर रहा है?

**राहुल मुखोपाध्याय** अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु में फैकल्टी के सदस्य हैं। उन्हें शिक्षा के समाजशास्त्र, शिक्षा नीति और संगठनों के समाजशास्त्र के क्षेत्र में शोध करने में रुचि है। उनसे rahul.mukhopadhyay@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।

**अर्चना मेहेंदले** सेण्टर फॉर एजुकेशन इनोवेशन एण्ड एक्शन रिसर्च, टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज, मुम्बई में प्रोफेसर हैं। उनसे archana.mehendale@tiss.edu पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# शिक्षक अधिगम समुदाय – सुरपुर से प्राप्त अन्तर्दृष्टि

उमाशंकर पेरिओडी

हमने 2008 में बाल स्नेही स्कूल पहल की समीक्षा की। 2005 में यह पहल सुरपुर में शुरू की गई थी जो उत्तर–पूर्व कर्नाटक (NEK) का एक अविकसित और अल्प सुविधा प्राप्त क्षेत्र है। इसका उद्देश्य था बाल स्नेही वातावरण में सभी बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देना। हमारे ब्लॉक में 300 से कुछ अधिक स्कूल थे जहाँ हम इन 5 क्षेत्रों में कार्य कर रहे थे : 1. स्कूल का वातावरण, 2. कक्षा का वातावरण, 3. शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया, 4. शिक्षक शैक्षिक विकास और 5. सामुदायिक भागीदारी।

समीक्षा करने पर यह बात सामने आई कि इन पाँच क्षेत्रों में सबसे अधिक उपेक्षित क्षेत्र थे शिक्षक शैक्षिक विकास और सामुदायिक भागीदारी। समीक्षा के परिणामों पर जब और गहराई से विश्लेषण किया तो यह स्पष्ट हुआ कि शिक्षक शैक्षिक विकास के बिना शिक्षा के क्षेत्र में कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता। इसलिए हमने सोचा कि अगले चरण में शिक्षक शैक्षिक विकास या शिक्षक पेशेवर विकास पर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए हमने बहुत गहन विचार–विमर्श किया, जानकारियाँ हासिल कीं और फिर हम इस नतीजे पर पहुँचे कि हमें मेलों या बाल–मेलों का आयोजन करना चाहिए और शिक्षक अधिगम केन्द्रों (Teacher learning Centers -TLC) पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

हम जिस मेले का आयोजन करते हैं वह किसी विषय विशेष आधारित होता है–उदाहरण के लिए विज्ञान, गणित, सामाजिक विज्ञान या भाषा पर। एक स्कूल या स्कूलों का एक समूह किसी एक विषय या थीम की जिम्मेदारी लेता है और अपने बच्चों को इस बात के लिए तैयार करता है कि वे मेले में भाग लेने वाले लोगों (विद्यार्थियों, शिक्षकों और समुदाय) के सामने उस अवधारणा को अन्तःक्रियात्मक तरीके से प्रस्तुत करें। इन पाँच सालों में हमने अलग–अलग विषयों पर लगभग 400 मेलों का आयोजन किया है। पहले मेले के आयोजन में सभी 25 मार्गदर्शियों ने भाग लिया था। हम सभी जन एक हफ्ते तक स्कूल में ही रहे। लेकिन अब जब कोई स्कूल मेले का आयोजन करता है तो हमारा केवल एक मार्गदर्शी उनकी सहायता करता है। सारा नियोजन और बच्चों की तैयारी शिक्षक ही करते हैं। यह देखकर बड़ी खुशी होती है कि कैसे ये सारे शिक्षक, जो सार्वजनिक स्कूल के शिक्षक हैं, खुद को तैयार करते हैं। जब वे बच्चों को तैयार करते हैं तो बच्चों द्वारा पूछे जाने वाले सवाल उन्हें इस बात के लिए मजबूर कर देते हैं कि वे उस अवधारणा के बारे में और ज्यादा जानकारी हासिल करें। इस प्रकार शिक्षकगण बच्चों के साथ में अपने अधिगम की यात्रा शुरू करते हैं। आमतौर पर सरकारी प्राथमिक स्कूलों के ज्यादातर शिक्षकों ने अपने स्कूल या डी.एड., बी.एड. कोर्स के दौरान विज्ञान के प्रयोग या शिक्षण–अधिगम सामग्री का इस्तेमाल नहीं किया होता। अस्तु, जब मेले का आयोजन करने की बात पक्की हो जाती है तब आसपास के स्कूलों के सभी शिक्षक साथ में मिलकर योजना बनाते हैं, उदाहरण

के लिए विज्ञान पढ़ाने वाले शिक्षक अवधारणाओं और तत्सम्बन्धी गतिविधियों की तैयारी करने लगते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान वे उन अवधारणाओं के बारे में पढ़ते हैं और ज्ञान व जानकारी साझा करने लगते हैं। इस प्रकार साथ–साथ कार्य करने से उनमें आपसी सामंजस्यता की भावना का विकास होता है और इसी से अनौपचारिक शिक्षा मंच की उत्पत्ति होती है।

कुछ समय के बाद शिक्षकों का सीखना तेजी से बढ़ने लगता है। वे अपने विद्यार्थियों और अन्य शिक्षकों के साथ इस सीख का विस्तार करते हैं। यह प्रक्रिया धीरे–धीरे आगे बढ़ती है और अन्य स्कूल के शिक्षकों तथा हाईस्कूलों तक पहुँच जाती है। वे अनुभवी लोगों और विशेषज्ञों से मिलते हैं और अपने ज्ञान का संवर्धन करते हैं। साथ में मिलकर सीखने वाली यही बात मेलों की सबसे अच्छी बात है। इससे लोग संवेदनशील हो जाते हैं और दूसरों से सीखने को तैयार रहते हैं। मैं समझता हूँ कि दूसरों के साथ जुड़ने की यही शुरुआत है। शिक्षकों व विद्यार्थियों, अन्य शिक्षकों, प्रधानाध्यापकों और अधिकारियों के बीच का पदानुक्रम दूर हो जाता है और यह बात शिक्षक अधिगम समुदाय के विकास के लिए अपेक्षित है।

एक–दूसरे से मिलने और उनसे सीखने से शिक्षकों को इस बात की प्रेरणा मिली है कि वे दूसरों को भी मेलों का आयोजन करने के लिए प्रोत्साहित करें और इसमें उनकी मदद करें। मेले की तैयारी ही उसकी सफलता की कुंजी है और इसी तैयारी के दौरान शिक्षकों की क्षमता का निर्माण होता है क्योंकि वे साथ–साथ पढ़ना, खोजबीन करना, प्रयोग करना और विचार करना शुरू

कर देते हैं। इस प्रकार से निर्मित गैर औपचारिक स्थान उन्हें इस बात के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करने के लिए काफी है कि वे खुले विचारों वाले उत्साही शिक्षकों का एक ऐसा समूह बनाएँ जो कुछ करना चाहते हैं, सीखना और योगदान करना चाहते हैं। जहाँ मेले की तैयारी सीखने का अवसर देती है वहीं मेले का आयोजन उन्हें अपनी पहचान बनाने का मौका देता है। माता–पिता व समुदाय शिक्षकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और शिक्षक समुदाय व उच्च अधिकारियों से उन्हें प्रशंसा मिलती है।

इस बिन्दु पर पहुँचकर हमने महसूस किया कि अधिगम के इस अनौपचारिक अवसर को थोड़ा औपचारिक और पुख्ता कर देना चाहिए क्योंकि अधिगम एक गम्भीर प्रयास है जिसके लिए व्यवस्थित अध्ययन, चर्चा और साझेदारी की जरूरत है। और तब शिक्षक अधिगम केन्द्र को शुरू करने का विचार मन में आया।

सुरपुर में हमने पहले चार शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र (टी.एल.सी.) शुरू किए। टी.एल.सी. शिक्षकों के मिलने, साझा करने और सीखने का स्थान है। इसका नाम शिक्षक संसाधन केन्द्र से शिक्षक अधिगम केन्द्र में बदलने के लिए काफी विचार–विमर्श हुआ। यह चिन्ता थी कि यह एक निष्क्रिय संसाधन केन्द्र बनकर नहीं रह जाए। जोर इस बात पर था कि यह शिक्षकों का एक सक्रिय अधिगम केन्द्र होना चाहिए। यह सच है कि शुरुआती दौर में शिक्षकों ने अपनी मर्जी से भाग नहीं लिया। टी.एल.सी. में शिक्षकों के संगठित समूह का निर्माण

करने में 18 महीने लग गए। प्रारम्भिक कार्यक्रमों में उन सामान्य कठिन बिन्दुओं को लिया गया जिन्हें अगले ही दिन कक्षा में पढ़ाना होता था यानी तात्कालिक समस्या का हल खोजना। लेकिन आगे का रास्ता शिक्षकों ने स्वयं दिखाया। धीरे–धीरे विषय के शिक्षकों को लगा कि उन्हें कक्षा की आम समस्याओं का हल खोजने के लिए नियमित रूप से मिलना चाहिए। वे महीने में एक बार मिलने लगे जो बाद में स्वैच्छिक शिक्षक फोरम बन गया, क्योंकि उन्होंने अपने निजी समय में स्वेच्छापूर्वक अपनी क्षमता का निर्माण करने की बात सोची। विषय के शिक्षक अपने विषय में विशिष्ट बातें पूछने लगे और इस तरह से विषय विशेष शिक्षक फोरम की रचना हुई। बाद में ये मंच शिक्षा के उद्देश्य और उसके परिप्रेक्ष्य पर भी चर्चा करने लगे। स्वैच्छिक शिक्षक मंच बहुत सक्रिय हो गया और इसमें क्षमता निर्माण की अनेक गतिविधियाँ होने लगीं। यहाँ अँग्रेजी में 'परिवर्तन एजेण्ट' के अन्तर्गत प्रशिक्षित शिक्षक अपनी कक्षाओं में बहुत अच्छा शिक्षण करने लगे और सरकारी प्रशिक्षण सत्रों में उनका चयन संसाधक के रूप में भी हुआ। धीरे–धीरे शिक्षकों ने ज्यादा जिम्मेदारी लेनी शुरू कर दी और एक कोर समूह का गठन किया गया जो टी.एल.सी. का प्रबन्धन और संचालन करता है। जिला संस्थान की टीम द्वारा प्रकाशित सूचना/समाचार पत्र का कार्यभार धीरे–धीरे टी.एल.सी. द्वारा ले लिया गया। टी.एल.सी. शिक्षक की गतिविधियों का केन्द्र बन गया। कुछ शिक्षक खेल सामग्री की माँग करते तो कुछ को पुस्तकें चाहिए थीं। शिक्षक पुस्तकालय से पुस्तकें और प्रयोगशाला से विज्ञान के उपकरण लेकर उनका उपयोग कक्षा में करने लगे। वे शैक्षिक भ्रमण के लिए विभिन्न संसाधन केन्द्रों (चामराजनगर, कुप्पम) और कक्षा संचालन के अवलोकन के लिए केरल गए।

आज सुरपुर में छह और उत्तर–पूर्व कर्नाटक में बाईस टी.एल.सी. हैं। हमारे अपने समन्वयकों, सरकारी अधिकारियों और शिक्षक समूहों द्वारा चालित अनेक टी.एल.सी. भी हैं। टी.एल.सी. अपनी गतिविधियों की समय तालिका को औपचारिक रूप देने का प्रयास कर रहे हैं और उनका ध्यान शैक्षिक चर्चाओं और गतिविधियों पर केन्द्रित है। शैक्षिक कार्यों के साथ उन्होंने और भी बहुत कुछ करने का प्रयत्न किया है जैसे वीडियो बनाकर उनका प्रयोग कक्षा और सूचना/समाचार पत्रों में करना। कई शिक्षक 'नंगे पाँव शोध' (barefoot research) में शामिल हो रहे हैं। वे प्रासंगिक विषयों पर संगोष्ठियाँ, सम्मेलन, अनौपचारिक चर्चाएँ और कार्यशालाएँ आयोजित करते हैं। कोर कमेटी इस बात पर चर्चा कर रही है कि टी.एल.सी. में आने वाले शिक्षकों के लिए पाठ्यक्रम का विकास किया जाए। उत्तर–पूर्व कर्नाटक के अन्य टी.एल.सी.के सदस्य सुरपुर के टी.एल.सी. का दौरा करने आते हैं। ये अन्य शिक्षकों के लिए प्रेरणा का स्रोत हैं।

यहाँ समझने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये सारे शिक्षक बहुत दूरदराज, अविकसित और अल्प सुविधा प्राप्त क्षेत्रों में स्थित सरकारी प्राथमिक स्कूलों के शिक्षक हैं जो एक बड़ी चुनौती है। लेकिन शिक्षक समुदाय जीवन्त है, हर कदम पर कुछ सीखने को

उत्सुक है। इसके अलावा ये स्वैच्छिक शिक्षक मंच हैं, शिक्षकों का अधिगम समूह है, जिसे हम अभी तक समझ नहीं पाए हैं।

हमें नहीं जानते कि वास्तव में कौन–सी चीज इन्हें सफल बनाती है। हम किसी एक बात को इसका श्रेय नहीं दे सकते कि इसी जादुई छड़ी के घुमाने से काम हो गया। हमने बहुत सारे कार्य किए जिसे जैविक रूप से एकीकृत किया गया। हमने एक लम्बे समय तक यह सब किया है पर आज लगता है कि यह काफी नहीं है। यह तो एक प्रवृत्ति है जिसे हम देख रहे हैं और इसे कायम रखने के लिए इसकी नींव और जड़ों को मजबूती से जमाना जरूरी है।

इस यात्रा में हमने कुछ बुनियादी मान्यताएँ जुटाई हैं। इरादों का सच्चा और स्पष्ट होना अनिवार्य है और वे हमारे कार्य और क्रियाकलापों द्वारा ही दूसरों तक पहुँचते हैं। सब कुछ होना ही है, पहले माँग पैदा करना और फिर उसकी आपूर्ति करना। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षकों की क्षमता निर्माण के लिए टी.एल.सी. में हो रहे प्रयास उनके पेशेवर विकास को समृद्ध कर रहे हैं और उसमें योगदान दे रहे हैं। हम जब फील्ड में रहकर शिक्षकों के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करते हैं तो उन्हें विश्वास हो जाता है कि हम काम शुरू करवाकर कुछ ही समय तक उनका साथ देकर गायब हो जाने वालों में से नहीं हैं, बल्कि हम तो एक सच्चे साथी की तरह हर ऊँच–नीच में उनके साथ हैं, उनके साथ काम करते हैं और उनके अनुभव व ज्ञान का सम्मान करते हैं। हम शुरुआत इस नजरिए से करते हैं कि हम कुछ नहीं जानते और ईमानदारी के साथ एक–दूसरे से सीखना चाहते हैं। कोई भी समुदाय ऐसे सम्बन्धों के ठोस आधार पर बनता है जो एक–दूसरे का आदर और विश्वास करे। शुरू में समूह के आपसी सम्बन्ध अनौपचारिक वातावरण में बनते हैं लेकिन पुख्ता अधिगम के लिए एक संरचित और व्यवस्थित प्रक्रियाओं की जरूरत होती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षक सीखने का आनन्द लें और स्वायत्तता की शक्ति का स्वाद चखें।

**उमाशंकर पेरिओडी** उत्तर–पूर्व कर्नाटक में शिक्षा और विकास के लिए अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की पहल का नेतृत्व करते हैं। विकास के क्षेत्र में उन्हें 25 सालों का अनुभव है। उन्होंने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के साथ ही बी.आर.हिल्स कर्नाटक में जनजातीय शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक योगदान दिया है। उन्होंने फील्ड के कार्यकर्ताओं एवं प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों को वह अनुसन्धान करने के लिए मूल स्तर पर प्रशिक्षण दिया है जिसे वे 'नंगे पाँव शोध' कहकर बुलाते हैं। वे कर्नाटक राज्य प्रशिक्षक संस्था के संस्थापक सदस्य भी हैं। उनसे periodi@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

# शिक्षा तंत्र में संवाद और समन्वय

अनंत गंगोला और जगमोहन सिंह कठैत

शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण, रोचक किन्तु जटिल प्रक्रिया है। जटिल इसलिए कि शिक्षा अपने सामाजिक ताने–बाने के साथ संचालित होती है। ये ताने–बाने भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक आदि विविधताओं से निर्धारित होते हैं। ये विभिन्न प्रकार की विविधताएँ शिक्षा प्रक्रिया में जटिलताएँ पैदा कर देती हैं। दूसरी ओर शिक्षा की विषय–वस्तु, शिक्षण की विधा बहुत विविध और व्यापक होती है और सतत बदलती रहती है। तीसरी ओर इसके हितधारक (विद्यार्थी व इसके सुगमकर्ता–शिक्षकगण) भी विविध, परिवर्तनशील व बहुआयामी हैं। ये दोनों आयाम भी शिक्षा की प्रक्रिया को जटिल बनाते हैं। कुल मिलाकर शिक्षा अपनी गतिशीलता, विविधता और बहुआयामी विशेषताओं के कारण जटिल प्रक्रिया बन जाती है।

अब भारत जैसे सांस्कृतिक रूप से विविध व व्यापक देश में सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में इसकी जटिलता की कल्पना करते हैं तो इसका विस्तार और भी बढ़ जाता है। एक अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि हमारे यहाँ जितने बच्चे मध्याह्न भोजन करते हैं उतनी कई देशों की पूरी जनसंख्या ही है। भोजन की विभिन्न आदतों के चलते किसी एक प्रदेश में भी मध्याह्न भोजन के लिए एक मैन्यू तैयार करना एक चुनौतीपूर्ण काम है।

शिक्षा के परिवर्तनशील स्वभाव के चलते इसमें विभिन्न प्रकार की संस्थाओं की स्थापना होती रहती है जिसमें विभिन्न प्रकार के हित धारक जुड़ते रहते हैं और उनसे विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं की अपेक्षा की जाती है। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा का सर्व शिक्षाकरण व सार्वभौमीकरण होना, एक बड़ा व महत्त्वपूर्ण परिवर्तन रहा है। यह परिवर्तन पुराने मुद्दों का विस्तार भर नहीं बल्कि मुद्दे भी नए हैं और सन्दर्भ भी नए हैं तथा साथ ही मूल्य और सामाजिक बोध भी नए हैं। इन नवीन सन्दर्भों में सर्व शिक्षा के तहत विभिन्न संस्थाओं/संरचनाओं की स्थापना हुई है। शिक्षा के विकेन्द्रीकरण के लिए समुदाय की भागीदारी और सिविल सोसाइटी की भागीदारी अपेक्षित की गई।

उत्तराखण्ड में विद्यालय को सहयोग करने वाली संस्थाओं का वर्तमान स्वरूप

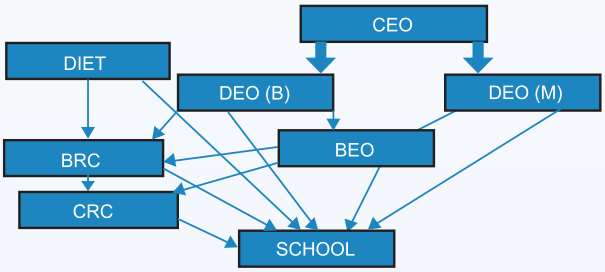


एक मुहिम के रूप में संरचनाएँ तो स्थापित हो गईं और समुदाय तथा सिविल सोसाइटी भी विभिन्न स्तरों पर भागीदारी करने लगी लेकिन इन सभी संस्थाओं में अपनी भूमिकाओं की स्पष्टता का अभाव रहा। परन्तु सबसे बड़ा अभाव आपसी संवाद व आपसी समन्वयन का रहा है। संस्थाओं के मध्य या तो संवादहीनता थी/है या फिर अपने में ही संवाद कर रही थीं। दाहिना हाथ क्या कर रहा है, बाएँ हाथ को मालूम हो पाए इसकी व्यवस्था नहीं है। यदि इस प्रचलित मानस की दृष्टि से संस्थाओं का रेखिक स्वरूप देखते हैं तो कुछ इस प्रकार दिखता है जिसमें नई संरचनाएँ अनुसमर्थन संस्थान की जगह अनुश्रवण संस्थानों में तब्दील होती चली गईं।

यह समझना भी निहायत जरूरी है कि शिक्षा के क्षेत्र में बेहतर काम स्वैच्छिक अप्रोच, पहल व स्वप्रेरित होकर किए जाने वाले प्रयास से ही सफल तथा स्थायी होते हैं, आदेशों से शिक्षा व शिक्षण की प्रक्रियाएँ अमल में तो आती हैं लेकिन अपेक्षित स्थायित्व व जीवंतता नहीं प्राप्त कर पाती हैं।

जिन संस्थानों के मध्य बेहतर संवाद, बेहतर समन्वयन और सहयोग होना चाहिए था वह नहीं दिखाई पड़ रहा है। जो लोग संवदेनशील निकले और नई परिस्थितियों के मर्म को समझ पाए उन्होंने अपने स्तर से प्रयास किए और अपनी दिशा बच्चों की ओर मोड़ पाए। इस प्रकार के लोग जो कुछ बेहतर कर पाए वे बेहतर, संस्थान के कारण नहीं बल्कि बेहतर व्यक्ति के कारण अच्छा कुछ कर पाए। ये संस्थान जो एक–दूसरे के पूरक थे और

पूरकता में ही जिनकी सफलता थी वे पूरक होने की जगह समानान्तर हो गए और कुछ–कुछ गतिविधियाँ विरोधाभासी होती गईं।

उपरोक्त पृष्ठभूमि के चलते हम लोगों ने महसूस किया कि कोई एक संस्था हो जो संरचना के रूप में तो औपचारिक हो परन्तु प्रक्रिया के रूप में अनौपचारिक। जहाँ शैक्षिक मुद्दों पर संवाद हो तथा आपसी समन्वयन हो और इस संवाद व समन्वयन में एक–दूसरे के प्रति सम्मान हो ताकि ये नई संरचनाएँ शिक्षा में प्रभावी योगदान कर सकें न कि एक बोझ के रूप में स्थापित हों। इस बात की आवश्यकता शासन ने भी महसूस की और हमें न केवल उत्तरकाशी व उधमसिंह नगर में ऐसे अकादमिक सन्दर्भ समूह गठित करने की अनुमति प्रदान की गई बल्कि इसके लिए शासन द्वारा वित्तीय प्रावधान भी किए गए। इस प्रकार एक अकादमिक सन्दर्भ समूह (Academic Resource Group- ARG) की अवधारणा तैयार हुई जिसने अपने स्वरूप का विस्तार कुछ इस प्रकार पाया–

- यह एक ऐसा सर्वनिष्ठ मंच है जिसमें शिक्षकों से लेकर अधिकारियों तक सभी संस्थानों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं।
- एक ऐसा मंच जहाँ पर प्रत्येक वर्ग/संस्थान की एक–दूसरे से अपेक्षाएँ तथा एक–दूसरे की समस्याओं व चुनौतियों को समझने का अवसर मिलता है।
- अकादमिक अनुसमर्थन संस्थानों के मध्य बेहतर समन्वयन हेतु एक साझा मंच प्राप्त होता है।
- शैक्षिक गुणवत्ता संवर्द्धन हेतु हो रहे 'विशेष' प्रयासों को 'शेष' लोगों तक पहुँचाने हेतु एक मंच प्रदान करता है।
- अकादमिक अनुसमर्थकों एवं शिक्षकों की **समस्याओं व चुनौतियों की पहचान** करता है तथा **समाधान हेतु उपायों** की अनुशंसा करता है।
- **व्यक्तिगत निर्णयों** के बजाय **सामूहिक निर्णयों** की ओर बढ़ने की संस्कृति बनाता है।
- ए.आर.जी. गठन का मकसद **संवादहीनता को तोड़ना ही नहीं** बल्कि **संवाद बढ़ाना** है जिस ओर हमें बढ़ना है।
- इसके पूरे क्रियान्वयन में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनाया जाता है। जैसे– बैठकों में एक सदस्य के रूप में सभी के लिए बैठने, रहने एवं खाने की समान व्यवस्थाएँ की जाती हैं। सभी लोग अपनी बात एक सदस्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कोई भी व्यक्ति सुगमकर्ता हो सकता है परन्तु कोई अधिकारी नहीं होता है ताकि लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को बढ़ावा मिल सके।
- DPO/DEO, DIET एवं अन्य अकादमिक संस्थानों को उनकी वार्षिक अकादमिक योजना बनाने में सहयोग करना तथा समय–समय पर समीक्षा करना।

यदि संवाद व समन्वयन की इस पहल को पूरी तरह आत्मसात किया जाता है तो संस्थाओं के मध्य समन्वयन का स्वरूप कुछ इस प्रकार उभरता है जिस ओर हम लोग कुछ आगे भी बढ़े हैं–

विद्यालय को सहयोग करने वाली संस्थाओं का कैसा हो स्वरूप

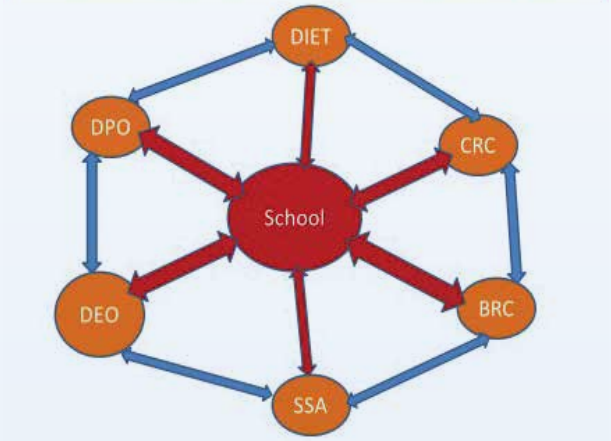


**अब तक की यात्रा के कुछ पड़ाव–**

जनपद उत्तरकाशी में ए. आर. जी. गठन के बाद से कुछ ऐसे ऐतिहासिक फैसले हुए हैं और पहल की गई जिसने राज्य को भी दिशा प्रदान की है। जैसे –

1. बैठक की अकादमिक चर्चाओं से शैक्षिक नवाचार के रूप में बाल शोध मेले की आवधारणा उदय हुई है और जिसने बाद में पूरे राज्य में विस्तार पाया।
2. शिक्षकों की समस्याओं को सुनियोजित तरीके से समाधानित करने के लिए शिक्षकों के समस्या निवारण शिविरों का विकास खण्ड स्तर पर आयोजन किया गया जिसने शिक्षकों के बीच काफी लोकप्रियता पाई। इतना ही नहीं अनुश्रवण व अनुसमर्थन के दौरान अनुश्रवणकर्ताओं ने इस बात का नैतिक अधिकार भी पाया कि वे शिक्षकों को बेहतर प्रदर्शन के लिए मजबूती से आग्रह कर पाएँ।

3. बैठकों में समस्याओं/मुद्दों को शोध आधारित तार्किक तरीके से प्रस्तुत करने की संस्कृति की ओर बढ़े।

4. कई जगहों पर विकास खण्ड स्तरीय एवं संकुल स्तरीय बैठकों ने अकादमिक स्वरूप पाया है जो आज भी जारी ही नहीं बल्कि परिपक्व होता जा रहा है।

5. जिन शिक्षकों व अनुसमर्थनकर्ताओं ने कुछ विशेष सार्थक व सफल प्रयास किए उन्हें साझा करने का मंच प्राप्त हुआ। इस पहल ने दो काम किए– एक ओर तो उन पहलकर्ताओं को एक सम्मान व पहचान दिलाई वहीं दूसरी ओर अन्य लोगों को भी नवाचारी पहल के लिए एक विचार व प्रेरणा मिली।

6. ऐसा नहीं है कि केवल बैठकों के आयोजन मात्र से यह सब होने लगा है बल्कि अकादमिक सन्दर्भ समूह की क्षमता संवर्द्धन एवं परिप्रेक्ष्य निर्माण के लिए निम्न कार्यशालाएँ आयोजन व शैक्षिक भ्रमणों का आयोजन किया गया–

   - दस दिवसीय क्षमता संवर्द्धन एवं शैक्षिक परिप्रेक्ष्य निर्माण कार्यशाला – दिगन्तर, जयपुर राजस्थान में आयोजित की गई।
   - दस दिवसीय क्षमता संवर्द्धन एवं शैक्षिक परिप्रेक्ष्य निर्माण कार्यशाला – विद्या भवन, उदयपुर, राजस्थान में आयोजन हुआ।
   - दस दिवसीय क्षमता संवर्द्धन एवं शैक्षिक परिप्रेक्ष्य निर्माण कार्यशाला – एकलव्य, होशंगाबाद, म. प्र. में आयोजन किया गया।
   - पाँच दिवसीय क्षमता संवर्द्धन एवं शैक्षिक परिप्रेक्ष्य निर्माण कार्यशाला आयोजन – अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन एवं डी.पी. ओ.–एस. एस. ए. द्वारा उत्तरकाशी में ही किया गया।

**कुछ अवलोकन**

इस पूरी यात्रा में हमने पाया कि यह एक महत्त्वपूर्ण पहल है जिसने विभिन्न संस्थानों के बीच समन्वयन की एक अच्छी कोशिश की। संस्थानों व लोगों के मध्य एक अच्छे व्यवहार की संस्कृति के बीज बोए। हमने इस यात्रा में पाया कि जब भी सम्मानपूर्वक व समानता भाव से संवाद होता है तो यह संवाद बहुत रचनात्मक होता है। ऐसे में लिए गए निर्णय भी प्रभावी एवं दीर्घगामी होते हैं। सम्मान एवं समानतापूर्वक संवाद के लिए वातावरण सृजित करने का दायित्व सम्बन्धित नेतृत्व की ओर अधिक जाता है। नेतृत्व का परिप्रेक्ष्य सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस पहल की सफलता नेतृत्व व संचालकों के परिप्रेक्ष्य पर काफी हद तक निर्भर करती है।

अकादमिक सन्दर्भ समूह के इस प्रयोग को उत्तराखण्ड के उत्तरकाशी एवं उधमसिंह नगर जिलों में करते हुए 5–6 साल ही हुए हैं, उसमें भी अधिकारियों के सतत तबादलों के कारण बैठकों व कार्यशालाओं की निरन्तरता नहीं रह पाई। इस छोटी–सी यात्रा पर नजर डालते हुए हम कुछ उपलब्धियों के बारे में दावा तो नहीं कर पाएँगे परन्तु कुछ बातें हमारे सामने और स्पष्ट हुई हैं।

शिक्षा के इतने व्यापक तंत्र और संरचना में तमाम काम करने वाले लोग और विशेषकर शिक्षक **'भीड़ में भी अकेले'** हैं। शिक्षा के कर्म में जुटे लोगों के मध्य सामूहिक, समन्वित प्रयासों और एक लगातार चलते रहने वाले 'संवाद' की बेहद जरूरत है। यह संवाद और समन्वयन शिक्षाकर्म में लगे लोगों के पेशेवर एकाकीपन को तोड़ेगा और व्यक्ति और संस्थाएँ एक–दूसरे के पूरक और सहयोगी बन पाएँगे। अकादमिक सन्दर्भ समूह का उत्तराखण्ड में किया गया प्रयोग स्वस्थ आरम्भिक संकेत प्रदान करता है हालाँकि यात्रा अभी लम्बी है और यह प्रथम पड़ाव ही है।

**अनंत गंगोला** वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु में कार्यरत हैं। इसके पहले वे देश के पाँच राज्यों के शासकीय स्कूलों एवं उनके शिक्षकों के साथ काम कर रहे थे। इन राज्यों में मध्यप्रदेश तथा उत्तराखण्ड शामिल हैं। उनसे anant@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

**जगमोहन सिंह** कठैत पिछले सात वर्ष से अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में कार्यरत हैं। वर्तमान में वे उत्तराखण्ड में श्रीनगर पौढ़ी में गढ़वाल टीम का नेतृत्व कर रहे हैं। इसके पहले वे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के उत्तरकाशी जिला संस्थान का नेतृत्व कर रहे थे। उन्हें सामाजिक एवं शिक्षा के क्षेत्र में काम करने का पच्चीस से अधिक वर्षों का अनुभव है। उनसे jagmohan@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

# कार्यपुस्तिकाएँ (वर्कबुक्स) या खेलपुस्तिकाएँ (प्लेबुक्स)? – राजस्थान सरकार के स्कूलों के लिए कार्यपुस्तिकाओं के निर्माण का अनुभव

आँचल चोमल

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने अपने लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम के अन्तर्गत राजस्थान के सरकारी स्कूलों की कक्षा पहली से पाँचवी में गणित, पर्यावरण विज्ञान और भाषा के अधिगम का आकलन किया। इस अध्ययन से पता चला कि बुनियादी पढ़ने, लिखने, गणितीय संक्रियाओं और पर्यावरण के साथ सामान्य रूप से जुड़ने में अधिगम का स्तर बहुत निम्न था। इसके फलस्वरूप शिक्षक लगातार इस बात की माँग करने लगे कि,"सच्ची दक्षताएँ प्रदान करने में हमारी मदद करें।" अब तक तो विषयों को पढ़ाने के लिए पाठ्यपुस्तकें एकमात्र संसाधन थीं जो पूरी तरह से शिक्षकों से चालित होती हैं। शिक्षकों को किसी ऐसी चीज की जरूरत महसूस हुई जो पाठ्यपुस्तकों की पूरक बन सके ताकि पाठों को पढ़ाने के विविध तरीके सामने आ सकें – और उन्हें लगा कि केवल शिक्षण–प्रशिक्षण से इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाएगी। इन्हीं कारणों से कार्यपुस्तिकाओं के निर्माण की परियोजना का प्रारम्भ हुआ।

राज्य परियोजना निदेशक के निमंत्रण पर **अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन** ने (**दिगन्तर** और **विद्या भवन सोसायटी** के सहयोग से) राजस्थान राज्य के लिए कार्यपुस्तिकाओं की रचना की। ये कार्यपुस्तिकाएँ इस राज्य के सभी 78,000 स्कूलों की पहली से आठवीं कक्षा के करीब 1.5 करोड़ विद्यार्थियों के लिए बनाई गईं। 6–8 महीने की अवधि के लिए एक टीम का गठन जयपुर में किया गया (**दिगन्तर** के साथ) और दूसरी टीम का उदयपुर में (**विद्या भवन सोसायटी** के साथ)। कक्षा 1 से 5 के लिए हिन्दी, गणित और पर्यावरण अध्ययन की कार्यपुस्तिकाओं का और कक्षा 6 से 8 के लिए हिन्दी, अँग्रेजी, गणित, विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान की कार्यपुस्तिकाओं का निर्माण किया गया। परियोजना में शामिल सभी लोगों ने सामूहिक रूप से मौजूदा पाठ्यपुस्तकों की सामग्री की समीक्षा की और सरोकार के बिन्दुओं के रूप में निम्नलिखित बातें उभरीं :

**प्रयोग में लाई गई भाषा** : पाठ्यपुस्तक में प्रयुक्त भाषा–शैली और शब्दाडम्बर की तरफ समूह का ध्यान विशेष रूप से गया। इसलिए कार्यपुस्तिका में स्पष्ट और असंदिग्ध रूप में निर्देश दिए गए और उनकी भाषा सरल रखी गई ताकि या तो विद्यार्थी उन प्रश्नों और क्रियाकलापों को खुद आसानी से पढ़कर समझ सकें या दोस्तों की मदद से समझ लें।

**लेआउट** : पाठ्यपुस्तक के अक्षरों का आकार, रंग के उपयोग, कुल लेआउट और छपाई की गुणवत्ता आदि सभी में सुधार की जरूरत महसूस की गई। इसलिए कार्यपुस्तिकाओं के निर्माण में इन पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया ताकि उसका ताना–बाना ऐसा हो कि बच्चा किताबों के ढेर में से उसे उठाने के लिए सहज रूप से आकर्षित हो जाए।

**सूचना का चयन** : पाठ्यपुस्तकों में इस बात का ध्यान नहीं रखा गया था कि सूचना का चयन, स्थिति और प्रस्तुति आयु के अनुरूप हो। इसलिए अक्सर एक ही अनुच्छेद में बहुत सारी अवधारणाएँ दे दी गई थीं और उनके बारे में बहुत कम विवरण दिया गया था। इसलिए कार्यपुस्तिकाओं में अवधारणाओं को कक्षा के बच्चों की आयु, पूर्व अधिगम और अवधारणात्मक सम्बन्धों के अनुसार प्राथमिकता दी गई ताकि भले ही अवधारणाएँ कम हों किन्तु कुछ मूल और अवधारणाओं को गहराई के साथ प्रस्तुत किया जाए। जहाँ कहीं आवश्यक हो वहाँ अनुपूरक पठन सामग्री प्रदान की गई जिससे पाठ्यपुस्तकों में अवधारणाओं के बीच जो अन्तराल था, वह दूर हो जाए।

**गलत सूचनाओं को हटाना** : एक चौंकाने वाली बात यह देखने में आई कि पाठ्यपुस्तकों में कुछ सूचनाएँ तथ्यात्मक रूप से गलत भी थीं। अतः कार्यपुस्तिकाओं में दी जाने वाली सूचनाओं के स्रोतों की बार–बार जाँच की गई और सच पूछा जाए तो इस कवायद से यह बात भी समझ में आई किसी भी शिक्षण–अधिगम संसाधन का निर्माण करते समय इस प्रकार की जाँच जरूरी है।

**सामग्री का अनुक्रमण और आयोजन** : प्रत्येक पाठ्यपुस्तक में विभिन्न अवधारणाओं की मैपिंग (मानचित्रण) और अधिगम के चरणों की मैपिंग का अभाव था। पाठों के बीच और अवधारणाओं के बीच कोई सहलग्नता नहीं थी... अन्तःविषयक सहलग्नता तो दूर की बात थी। इसलिए कार्यपुस्तिकाओं को इस तरह से बनाया गया कि उनमें बच्चा अपने अधिगम के लिए अवधारणाओं, विषयों और स्तरों के आगे–पीछे जा सके और अगर उसके पास न्यूनतम जानकारी हो तो वह आसानी से कार्यपुस्तिका का उपयोग कर सके।

**दृश्य आकर्षण** : जब हम बच्चों को अपरिचित अवधारणाओं जैसे कि ज्वालामुखी या भूकम्प के बारे में बताते हैं तो यह जरूरी हो जाता है कि दिए गए चित्र उस अवधारणा के बारे में विशद अनुभव दें, क्योंकि यह सम्भव नहीं कि हर बच्चा इनसे परिचित हो ही। साथ ही यह भी जरूरी था कि चित्र अर्थपूर्ण और आकर्षक हों। कार्यपुस्तिकाओं के निर्माण में इन चीजों का भी ध्यान रखा गया।

**शिक्षार्थी के स्वयं के सन्दर्भ के अनुसार सामग्री का सन्दर्भीकरण** : सन्दर्भीकरण के लिए लोकगीत और परिचित गानों तथा स्थानीय वनस्पतियों और जीव–जन्तुओं के उदाहरणों का इस्तेमाल किया गया।

चूँकि ये कार्यपुस्तिकाएँ बच्चों के लिए थीं इसलिए इस बात के बहुत से अवसर प्रदान किए गए कि विद्यार्थी शिक्षक की सहायता के बिना भी स्वतंत्र रूप से, साथियों के साथ और समूह में सीख सकें। इसका यह मतलब नहीं कि शिक्षकों को बिल्कुल छोड़ दिया गया, क्योंकि कार्यपुस्तिकाओं में शिक्षकों और शिक्षार्थियों दोनों को ऐसे निर्देश दिए गए थे जो स्पष्ट, असंदिग्ध और आसानी से अनुसरणीय हों। संक्षेप में, यह पूरा संसाधन शिक्षक और बच्चे को साथ–साथ सीखने वाला मानकर ही विकसित किया गया, इस रूप में नहीं कि 'एक–दूसरे को सिखाए'।

**आँचल चोमल** पिछले नौ वर्षों से फाउण्डेशन के साथ कार्यरत हैं। वे अज़ीम प्रेमजी स्कूल ऑफ कंटिन्यूइंग स्कूल एवं यूनिवर्सिटी रिसोर्स सेण्टर के मूल्यांकन एवं प्रत्यायन (Accresitation) संस्थान का नेतृत्व करती हैं। इसके अन्तर्गत वे शिक्षार्थियों, शिक्षकों और शिक्षक प्रशिक्षकों के साथ आकलन के लिए रूपरेखाएँ, उपकरण, प्रक्रियाएँ और दृष्टिकोण विकसित करती हैं। उन्होंने प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता से स्नातक और सेण्टर फॉर स्टडीज इन रीजनल डेवलेपमेंट, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से भूगोल में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की है। उनसे aanchal@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

अगला अंक

# शिक्षक

Earlier Issues of the Learning Curve may be downloaded from http://teachersofindia.org/en/periodicals/learning-curve or
**http://www.azimpremjifoundation.org/Foundation_Publications or http://azimpremjiuniversity.edu.in/SitePages/resources-learning-curve.aspx**

No. 134, Doddakannelli
Next to Wipro Corporate Office
Sarjapur Road, Bangalore - 560 035. India
Tel: +91 80 6614 4900/01/02 Fax: +91 80 6614 4903
E-mail: learningcurve@azimpremjifoundation.org
**www.azimpremjifoundation.org**

*Also visit Azim Premji University website at*
**www.azimpremjiuniversity.edu.in**

Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय
का प्रकाशन

For suggestions or comments and to share your views or personal experiences, do write to us at **learningcurve@azimpremjifoundation.org**